अध्याय चार

दिव्य ज्ञान

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; इमम्—इस; विवस्वते—सूर्यदेव को; योगम्—परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध की विद्या को; प्रोक्तवान्—उपदेश दिया; अहम्—मैंने; अव्ययम्—अमर; विवस्वान्—विवस्वान् (सूर्यदेव का नाम) ने; मनवे—मनुष्यों के पिता (वैवस्वत) से; प्राह—कहा; मनुः—मनुष्यों के पिता ने; इक्ष्वाकवे—राजा इक्ष्वाकु से; अब्रवीत्—कहा।

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—मैंने इस अमर योगविद्या का उपदेश सूर्यदेव विवस्वान् को दिया और विवस्वान् ने मनुष्यों के पिता मनु को उपदेश दिया और मनु ने इसका उपदेश इक्ष्वाकु को दिया।

तात्पर्य

यहाँ पर हमें *भगवद्गीता* का इतिहास प्राप्त होता है। यह अत्यन्त प्राचीन बताया गया है, जब इसे सूर्यलोक इत्यादि सम्पूर्ण लोकों के राजा को प्रदान किया गया था। समस्त लोकों के राजा विशेष रूप से निवासियों की रक्षा के निमित्त होते हैं, अत: राजन्यवर्ग को *भगवद्गीता* की विद्या को समझना चाहिए जिससे वे नागरिकों (प्रजा) पर शासन कर सकें और उन्हें काम-रूपी भवबन्धन से बचा सकें। मानव जीवन का उद्देश्य भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध के आध्यात्मिक ज्ञान का विकास है और सारे राज्यों तथा समस्त लोकों के शासनाध्यक्षों को चाहिए कि शिक्षा, संस्कृति तथा

भक्ति द्वारा नागरिकों को यह पाठ पढ़ाएँ। दूसरे शब्दों में, सारे राज्य के शासनाध्यक्ष कृष्णभावनामृत विद्या का प्रचार करने के लिए होते हैं, जिससे जनता इस महाविद्या का लाभ उठा सके और मनुष्य जीवन के अवसर का लाभ उठाते हुए सफल मार्ग का अनुसरण कर सके।

इस मन्वन्तर में सूर्यदेव विवस्वान् कहलाता है यानी सूर्य का राजा , जो सौरमंडल के अन्तर्गत समस्त ग्रहों (लोकों) का उद्गम है। *ब्रह्मसंहिता* में (५.५२) कहा गया है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः।
यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

ब्रह्माजी ने कहा, ''मैं उन श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो आदि पुरुष हैं और जिनके आदेश से समस्त लोकों का राजा सूर्य प्रभूत शक्ति तथा ऊष्मा धारण करता है। यह सूर्य भगवान् के नेत्र तुल्य है और यह उनकी आज्ञानुसार अपनी कक्षा को तय करता है।''

सूर्य सभी लोकों का राजा है तथा सूर्यदेव (विवस्वान्) सूर्य ग्रह पर शासन करता है, जो ऊष्मा तथा प्रकाश प्रदान करके अन्य समस्त लोकों को अपने नियन्त्रण में रखता है। सूर्य कृष्ण के आदेश पर घूमता है और भगवान् कृष्ण ने विवस्वान् को *भगवद्गीता* की विद्या समझाने के लिए अपना पहला शिष्य चुना। अतः *गीता* किसी मामूली सांसारिक विद्यार्थी के लिए कोई काल्पनिक भाष्य नहीं, अपितु ज्ञान का मानक ग्रंथ है, जो अनन्त काल से चला आ रहा है।

महाभारत में (*शान्ति पर्व* ३४८.५१-५२) हमें *गीता* का इतिहास इस रूप में प्राप्त होता है—

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ।
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः॥

''त्रेतायुग के आदि में विवस्वान् ने परमेश्वर सम्बन्धी इस विज्ञान का उपदेश मनु को दिया और मनुष्यों के जनक मनु ने इसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया। इक्ष्वाकु इस पृथ्वी के शासक थे और उस रघुकुल के पूर्वज थे,

जिसमें भगवान् श्रीराम ने अवतार लिया।'' इससे प्रमाणित होता है कि मानव समाज में महाराज इक्ष्वाकु के काल से ही *भगवद्गीता* विद्यमान थी। इस समय कलियुग के केवल ५,००० वर्ष व्यतीत हुए हैं जबकि इसकी पूर्णायु ४,३२,००० वर्ष है। इसके पूर्व द्वापरयुग (८,००,००० वर्ष) था और इसके भी पूर्व त्रेतायुग (१२,००,००० वर्ष) था। इस प्रकार लगभग २०,०५,००० वर्ष पूर्व मनु ने अपने शिष्य तथा पुत्र इक्ष्वाकु से जो इस पृथ्वी के राजा थे, *श्रीमद्भगवद्गीता* कही। वर्तमान मनु की आयु लगभग ३०,५३,००,००० वर्ष अनुमानित की जाती है जिसमें से १२,०४,००,००० वर्ष बीत चुके हैं। यह मानते हुए कि मनु के जन्म के पूर्व भगवान् ने अपने शिष्य सूर्यदेव विवस्वान् को *गीता* सुनाई, मोटा अनुमान यह है कि *गीता* कम से कम १२,०४,००,००० वर्ष पहले कही गई और मानव समाज में यह २० लाख वर्षों से विद्यमान रही। इसे भगवान् ने लगभग ५,००० वर्ष पूर्व अर्जुन से पुनः कहा। *गीता* के अनुसार ही तथा इसके वक्ता भगवान् कृष्ण के कथन के अनुसार यह *गीता* के इतिहास का मोटा अनुमान है। सूर्यदेव विवस्वान् को इसीलिए *गीता* सुनाई गई क्योंकि वह *क्षत्रिय* था और उन समस्त क्षत्रियों का जनक है जो सूर्यवंशी हैं। चूँकि *भगवद्गीता* वेदों के ही समान है क्योंकि इसे श्रीभगवान् ने कहा था, अतः यह ज्ञान अपौरुषेय है। चूँकि वैदिक आदेशों को यथारूप में बिना किसी मानवीय विवेचना के स्वीकार किया जाता है फलतः *गीता* को भी किसी सांसारिक विवेचना के बिना स्वीकार किया जाना चाहिए। संसारी तार्किकजन अपनी-अपनी विधि से *गीता* के विषय में चिन्तन कर सकते हैं, किन्तु यह यथारूप *भगवद्गीता* नहीं है। अतः *भगवद्गीता* को गुरु-परम्परा से यथारूप में ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पर यह वर्णन हुआ है कि भगवान् ने इसे सूर्यदेव से कहा, सूर्यदेव ने अपने पुत्र मनु से और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥ २ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; परम्परा—गुरु-परम्परा से; प्राप्तम्—प्राप्त; इमम्—इस विज्ञान को; राज-ऋषयः—साधु राजाओं ने; विदुः—जाना; सः—वह ज्ञान; कालेन—कालक्रम में;

इह—इस संसार में; महता—महान; योगः—परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का विज्ञान, योगविद्या; नष्टः—छिन्न-भिन्न हो गया; परन्तप—हे शत्रुओं को दमन करने वाले, अर्जुन।.

इस प्रकार यह परम विज्ञान गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इसी विधि से इसे समझा। किन्तु कालक्रम में यह परम्परा छिन्न हो गई, अतः यह विज्ञान यथारूप में लुप्त हो गया लगता है।

तात्पर्य

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि *गीता* विशेष रूप से राजर्षियों के लिए थी क्योंकि वे इसका उपयोग प्रजा के ऊपर शासन करने में करते थे। निश्चय ही *भगवद्गीता* कभी भी आसुरी पुरुषों के लिए नहीं थी जिनसे किसी को भी इसका लाभ न मिलता और जो अपनी-अपनी सनक के अनुसार विभिन्न प्रकार की विवेचना करते। अत: जैसे ही असाधु भाष्यकारों के निहित स्वार्थों से *गीता* का मूल उद्देश्य उच्छिन्न हुआ वैसे ही पुन: गुरु-परम्परा स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। पाँच हजार वर्ष पूर्व भगवान् ने स्वयं देखा कि गुरु-परम्परा टूट चुकी है, अत: उन्होंने घोषित किया कि *गीता* का उद्देश्य नष्ट हो चुका है। इसी प्रकार इस समय *गीता* के इतने संस्करण उपलब्ध हैं (विशेषतया अंग्रेजी में) कि उनमें से प्राय: सभी प्रामाणिक गुरु-परम्परा के अनुसार नहीं हैं। विभिन्न संसारी विद्वानों ने गीता की असंख्य टीकाएँ की हैं, किन्तु वे प्राय: सभी श्रीकृष्ण को स्वीकार नहीं करते, यद्यपि वे कृष्ण के नाम पर अच्छा व्यापार चलाते हैं। यह आसुरी प्रवृत्ति है, क्योंकि असुरगण ईश्वर में विश्वास नहीं करते, वे केवल परमेश्वर के गुणों का लाभ उठाते हैं। अतएव अंग्रेजी में *गीता* के एक संस्करण की नितान्त आवश्यकता थी जो परम्परा (गुरु-परम्परा) से प्राप्त हो। प्रस्तुत प्रयास इसी आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से किया गया है। *भगवद्गीता यथारूप* मानवता के लिए महान वरदान है, किन्तु यदि इसे मानसिक चिन्तन समझा जाय तो यह समय का अपव्यय होगा।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सः—वही; एव—निश्चय ही; अयम्—यह; मया—मेरे द्वारा; ते—तुमसे; अद्य—आज; योगः—योगविद्या; प्रोक्तः—कही गयी; पुरातनः—अत्यन्त प्राचीन; भक्तः—भक्त; असि—हो; मे—मेरे; सखा—मित्र; च—भी; इति—अतः; रहस्यम्—रहस्य; हि—निश्चय ही; एतत्—यह; उत्तमम्—दिव्य।

आज मेरे द्वारा वही यह प्राचीन योग यानी परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का विज्ञान, तुमसे कहा जा रहा है, क्योंकि तुम मेरे भक्त तथा मित्र हो, अतः तुम इस विज्ञान के दिव्य रहस्य को समझ सकते हो।

तात्पर्य

मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं—भक्त तथा असुर। भगवान् ने अर्जुन को इस विद्या का पात्र इसलिए चुना क्योंकि वह उनका भक्त था। किन्तु असुर के लिए इस परम गुह्यविद्या को समझ पाना सम्भव नहीं है। इस परम ज्ञानग्रंथ के अनेक संस्करण उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ भक्तों की टीकाएँ हैं और कुछ असुरों की। जो टीकाएँ भक्तों द्वारा की गई हैं वे वास्तविक हैं, किन्तु जो असुरों द्वारा की गई हैं वे व्यर्थ हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण को भगवान् के रूप में मानता है, अतः जो *गीता* भाष्य अर्जुन के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए किया गया है वह इस परमविद्या के पक्ष में वास्तविक सेवा है। किन्तु असुर भगवान् कृष्ण को उस रूप में नहीं मानते। वे कृष्ण के विषय में तरह-तरह की मनगढंत बातें करते हैं और वे कृष्ण के उपदेश-मार्ग से सामान्य जनता को गुमराह करते रहते हैं। ऐसे कुमार्गों से बचने के लिए यह एक चेतावनी है। मनुष्य को चाहिए कि अर्जुन की परम्परा का अनुसरण करे और *श्रीमद्भगवद्गीता* के इस परमविज्ञान से लाभान्वित हो।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **अपरम्**—अर्वाचीन, कनिष्ठ; **भवतः**—आपका; **जन्म**—जन्म; **परम्**—श्रेष्ठ (ज्येष्ठ); **जन्म**—जन्म; **विवस्वतः**—सूर्यदेव का; **कथम्**—कैसे; **एतत्**—यह; **विजानीयाम्**—मैं समझूँ; **त्वम्**—तुमने; **आदौ**—प्रारम्भ में; **प्रोक्तवान्**—उपदेश दिया; **इति**—इस प्रकार।

अर्जुन ने कहा—सूर्यदेव विवस्वान् आप से पहले हो चुके (ज्येष्ठ) हैं, तो फिर मैं कैसे समझूँ कि प्रारम्भ में भी आपने उन्हें इस विद्या का उपदेश दिया था।

तात्पर्य

जब अर्जुन भगवान् का माना हुआ भक्त है तो फिर उसे कृष्ण के वचनों पर विश्वास क्यों नहीं हो रहा था? तथ्य यह है कि अर्जुन यह जिज्ञासा अपने लिए नहीं कर रहा है, अपितु यह जिज्ञासा उन सबों के लिए है, जो भगवान् में विश्वास नहीं करते, अथवा उन असुरों के लिए है, जिन्हें यह विचार पसन्द नहीं है कि कृष्ण को भगवान् माना जाय। उन्हीं के लिए अर्जुन यह बात इस तरह पूछ रहा है, मानो वह स्वयं भगवान् या कृष्ण से अवगत न हो। जैसा कि दसवें अध्याय में स्पष्ट हो जाएगा, अर्र्जुन भलीभाँति जानता था कि कृष्ण श्रीभगवान् हैं और वे प्रत्येक वस्तु के मूलस्रोत हैं तथा ब्रह्म की चरम सीमा हैं। निस्सन्देह, कृष्ण इस पृथ्वी पर देवकी के पुत्र रूप में भी अवतीर्ण हुए। सामान्य व्यक्ति के लिए यह समझ पाना अत्यन्त कठिन है कि कृष्ण किस प्रकार उसी शाश्वत आदिपुरुष श्रीभगवान् के रूप में बने रहे। अत: इस बात को स्पष्ट करने के लिए ही अर्जुन ने कृष्ण से यह प्रश्न पूछा, जिससे वे ही प्रामाणिक रूप में बताएँ। कृष्ण परम प्रमाण हैं, यह तथ्य आज ही नहीं अनन्तकाल से सारे विश्व द्वारा स्वीकार किया जाता रहा है। केवल असुर ही इसे अस्वीकार करते रहे हैं। जो भी हो, चूँकि कृष्ण सर्वस्वीकृत परम प्रमाण हैं, अत: अर्जुन उन्हीं से प्रश्न करता है, जिससे कृष्ण स्वयं बताएँ और असुर तथा उनके अनुयायी जिस भाँति अपने लिए तोड़-मरोड़ करके उन्हें प्रस्तुत करते रहे हैं, उससे बचा जा सके। यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि अपने कल्याण के लिए वह कृष्णविद्या को जाने। अत: जब कृष्ण स्वयं अपने विषय में बोल रहे हों तो यह सारे विश्व के लिए शुभ है। कृष्ण द्वारा की गई ऐसी

व्याख्याएँ असुरों को भले ही विचित्र लगें, क्योंकि वे अपने ही दृष्टिकोण से कृष्ण का अध्ययन करते हैं, किन्तु जो भक्त हैं वे साक्षात् कृष्ण द्वारा उच्चरित वचनों का हृदय से स्वागत करते हैं। भक्तगण कृष्ण के ऐसे प्रामाणिक वचनों की सदा पूजा करेंगे, क्योंकि वे लोग उनके विषय में अधिकाधिक जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। इस तरह नास्तिकगण जो कृष्ण को सामान्य व्यक्ति मानते हैं वे भी कृष्ण को अतिमानव, सच्चिदानन्द विग्रह, दिव्य, त्रिगुणातीत तथा दिक्काल के प्रभाव से परे समझ सकेंगे। अर्जुन की कोटि के श्रीकृष्ण-भक्त को कभी भी श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप के विषय में कोई भ्रम नहीं हो सकता। अर्जुन द्वारा भगवान् के समक्ष ऐसा प्रश्न उपस्थित करने का उद्देश्य उन व्यक्तियों की नास्तिकतावादी प्रवृत्ति को चुनौती देना था, जो कृष्ण को भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन एक सामान्य व्यक्ति मानते हैं।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **बहूनि**—अनेक; **मे**—मेरे; **व्यतीतानि**—बीत चुके; **जन्मानि**—जन्म; **तव**—तुम्हारे; **च**—भी; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **तानि**—उन; **अहम्**—मैं; **वेद**—जानता हूँ; **सर्वाणि**—सबों को; **न**—नहीं; **त्वम्**—तुम; **वेत्थ**—जानते हो; **परन्तप**—हे शत्रुओं का दमन करने वाले।.

श्रीभगवान् ने कहा—तुम्हारे तथा मेरे अनेकानेक जन्म हो चुके हैं। मुझे तो उन सबका स्मरण है, किन्तु हे परंतप! तुम्हें उनका स्मरण नहीं रह सकता है।

तात्पर्य

ब्रह्मसंहिता में (५.३३) हमें भगवान् के अनेकानेक अवतारों की सूचना प्राप्त होती है। उसमें कहा गया है—

अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपमाद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च।
वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि पुरुष श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अद्वैत, अच्युत तथा अनादि हैं। यद्यपि अनन्त रूपों में उनका विस्तार है, किन्तु तो भी वे आद्य, पुरातन तथा नित्य नवयौवन युक्त रहते हैं। श्रीभगवान् के ऐसे सच्चिदानन्द रूप को प्राय: श्रेष्ठ वैदिक विद्वान जानते हैं, किन्तु विशुद्ध अनन्य भक्तों को तो उनके दर्शन नित्य ही होते रहते हैं।''

ब्रह्मसंहिता में (५.३९) यह भी कहा गया है—

रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन् नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।
कृष्ण: स्वयं समभवत् परम: पुमान् यो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन श्रीभगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो राम, नृसिंह आदि अवतारों तथा अंशावतारों में नित्य स्थित रहते हुए भी कृष्ण नाम से विख्यात आदि-पुरुष हैं और जो स्वयं भी अवतरित होते हैं।''

वेदों में भी कहा गया है कि अद्वैत होते हुए भी भगवान् असंख्य रूपों में प्रकट होते हैं। वे उस वैदूर्यमणि के समान हैं जो अपना रंग परिवर्तित करते हुए भी एक ही रहता है। इन सारे रूपों को विशुद्ध निष्काम भक्त ही समझ पाते हैं; केवल वेदों के अध्ययन से उनको नहीं समझा जा सकता (*वेदेषु दुर्लभमदुर्लभमात्मभक्तौ*)। अर्जुन जैसे भक्त कृष्ण के नित्य सखा हैं और जब भी भगवान् अवतरित होते हैं तो उनके पार्षद भक्त भी विभिन्न रूपों में उनकी सेवा करने के लिए उनके साथ-साथ अवतार लेते हैं। अर्जुन ऐसा ही भक्त है और इस श्लोक से पता चलता है कि लाखों वर्ष पूर्व जब भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* का प्रवचन सूर्यदेव विवस्वान् से किया था तो उस समय अर्जुन भी किसी भिन्न रूप में उपस्थित था। किन्तु भगवान् तथा अर्जुन में यह अन्तर है कि भगवान् ने यह घटना याद रखी, किन्तु अर्जुन इसे याद नहीं रख सका। अंशरूप जीवात्मा तथा परमेश्वर में यही अन्तर है। यद्यपि अर्जुन को यहाँ परम शक्तिशाली वीर के रूप में सम्बोधित किया गया है, जो शत्रुओं का दमन कर सकता है, किन्तु विगत जन्मों में जो घटनाएँ घटी हैं, उन्हें स्मरण रखने में वह अक्षम है। अत: भौतिक दृष्टि से जीव चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह कभी परमेश्वर की समता नहीं कर सकता। भगवान् का नित्य संगी निश्चित रूप से मुक्त पुरुष होता है, किन्तु वह भगवान् के तुल्य नहीं होता। *ब्रह्मसंहिता* में भगवान् को *अच्युत*

कहा गया जिसका अर्थ होता है कि वे भौतिक सम्पर्क में रहते हुए भी अपने को नहीं भूलते। अत: भगवान् तथा जीव कभी भी सभी तरह से एकसमान नहीं हो सकते, भले ही जीव अर्जुन के समान मुक्त पुरुष क्यों न हो। यद्यपि अर्जुन भगवान् का भक्त है, किन्तु कभी-कभी वह भी भगवान् की प्रकृति को भूल जाता है। किन्तु दैवी कृपा से भक्त तुरन्त भगवान् की अच्युत स्थिति को समझ जाता है जबकि अभक्त या असुर इस दिव्य प्रकृति को नहीं समझ पाता। फलस्वरूप *गीता* के विवरण आसुरी मस्तिष्कों में नहीं चढ़ पाते। कृष्ण को लाखों वर्ष पूर्व सम्पन्न कार्यों की स्मृति बनी हुई है, किन्तु अर्जुन को स्मरण नहीं है यद्यपि अर्जुन तथा कृष्ण दोनों ही शाश्वत स्वभाव के हैं। यहाँ पर हमें यह भी देखने को मिलता है कि शरीर-परिवर्तन के साथ-साथ जीवात्मा सब कुछ भूल जाता है, किन्तु कृष्ण सब स्मरण रखते हैं, क्योंकि वे अपने सच्चिदानन्द शरीर को बदलते नहीं। वे अद्वैत हैं जिसका अर्थ है कि उनके शरीर तथा उनकी आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। उनसे सम्बंधित हर वस्तु आत्मा है जबकि बद्धजीव अपने शरीर से भिन्न होता है। चूँकि भगवान् के शरीर तथा आत्मा अभिन्न हैं, अत: उनकी स्थिति तब भी सामान्य जीव से भिन्न बनी रहती है, जब वे भौतिक स्तर पर अवतार लेते हैं। असुरगण भगवान् की इस दिव्य प्रकृति से तालमेल नहीं बैठा पाते, जिसकी व्याख्या अगले श्लोक में भगवान् स्वयं करते हैं।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

अजः—अजन्मा; अपि—तथापि; सन्—होते हुए; अव्यय—अविनाशी; आत्मा—शरीर; भूतानाम्—जन्म लेने वालों के; ईश्वरः—परमेश्वर; अपि—यद्यपि; सन्—होने पर; प्रकृतिम्—दिव्य रूप में; स्वाम्—अपने; अधिष्ठाय—इस तरह स्थित; सम्भवामि—मैं अवतार लेता हूँ; आत्म-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से।

यद्यपि मैं अजन्मा तथा अविनाशी हूँ और यद्यपि मैं समस्त जीवों का स्वामी हूँ, तो भी प्रत्येक युग में मैं अपने आदि दिव्य रूप में प्रकट होता हूँ।

तात्पर्य

भगवान् ने अपने जन्म की विलक्षणता बतलाई है। यद्यपि वे सामान्य पुरुष की भाँति प्रकट हो सकते हैं, किन्तु उन्हें विगत अनेकानेक ''जन्मों'' की पूर्ण स्मृति बनी रहती है, जबकि सामान्य मनुष्य को कुछ ही घंटे पूर्व की घटना स्मरण नहीं रहती। यदि कोई पूछे कि एक दिन पूर्व इसी समय तुम क्या कर रहे थे, तो सामान्य व्यक्ति के लिए इसका तत्काल उत्तर दे पाना कठिन होगा। उसे इसको स्मरण करने के लिए अपनी बुद्धि को कुरेदना पड़ेगा कि वह कल इसी समय क्या कर रहा था। फिर भी लोग प्राय: अपने को ईश्वर या कृष्ण घोषित करते रहते हैं। मनुष्य को ऐसी निरर्थक घोषणाओं से भ्रमित नहीं होना चाहिए। अब भगवान् दुबारा अपनी प्रकृति या स्वरूप की व्याख्या करते हैं। प्रकृति का अर्थ स्वभाव तथा स्वरूप दोनों है। भगवान् कहते हैं कि वे अपने ही शरीर में प्रकट होते हैं। वे सामान्य जीव की भाँति शरीर-परिवर्तन नहीं करते। इस जन्म में बद्धजीव का एक प्रकार का शरीर हो सकता है, किन्तु अगले जन्म में दूसरा शरीर रहता है। भौतिक जगत् में जीव का कोई स्थायी शरीर नहीं है, अपितु वह एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण करता रहता है। किन्तु भगवान् ऐसा नहीं करते। जब भी वे प्रकट होते हैं तो अपनी अन्तरंगा शक्ति से वे अपने उसी आद्य शरीर में प्रकट होते हैं। दूसरे शब्दों में, श्रीकृष्ण इस जगत् में अपने आदि शाश्वत स्वरूप में दो भुजाओं में बाँसुरी धारण किये अवतरित होते हैं। वे इस भौतिक जगत् से निष्कलुषित रह कर अपने शाश्वत शरीर सहित प्रकट होते हैं। यद्यपि वे अपने उसी दिव्य शरीर में प्रकट होते हैं और ब्रह्माण्ड के स्वामी होते हैं तो भी ऐसा लगता है कि वे सामान्य जीव की भाँति प्रकट हो रहे हैं। यद्यपि उनका शरीर भौतिक शरीर की भाँति क्षीण नहीं होता फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् कृष्ण बालपन से कुमारावस्था तथा कुमारावस्था से तरुणावस्था प्राप्त करते हैं। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि वे कभी युवावस्था से आगे नहीं बढ़ते। कुरुक्षेत्र युद्ध के समय उनके अनेक पौत्र थे या दूसरे शब्दों में, वे भौतिक गणना के अनुसार काफी वृद्ध थे। फिर भी वे बीस-पच्चीस वर्ष के युवक जैसे लगते थे। हमें कृष्ण की वृद्धावस्था का कोई चित्र नहीं दिखता, क्योंकि वे कभी भी हमारे समान वृद्ध नहीं होते यद्यपि वे तीनों काल में—भूत, वर्तमान तथा भविष्यकाल

में—सबसे वयोवृद्ध पुरुष हैं। न तो उनका शरीर और न ही बुद्धि कभी क्षीण होती या बदलती है। अतः यह स्पष्ट है कि इस जगत् में रहते हुए भी वे उसी अजन्मा सच्चिदानन्द रूप वाले हैं, जिनके दिव्य शरीर तथा बुद्धि में कोई परिवर्तन नहीं होता। वस्तुतः उनका आविर्भाव और तिरोभाव सूर्य के उदय तथा अस्त के समान है जो हमारे सामने से घूमता हुआ हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है। जब सूर्य हमारी दृष्टि से ओझल रहता है तो हम सोचते हैं कि सूर्य अस्त हो गया है और जब वह हमारे समक्ष होता है तो हम सोचते हैं कि वह क्षितिज में है। वस्तुतः सूर्य स्थिर है, किन्तु अपनी अपूर्ण एवं त्रुटिपूर्ण इन्द्रियों के कारण हम सूर्य को उदय और अस्त होते परिकल्पित करते हैं। और चूँकि भगवान् का प्राकट्य तथा तिरोधान सामान्य जीव से भिन्न हैं अतः स्पष्ट है कि वे शाश्वत हैं, अपनी अन्तरंगा शक्ति के कारण आनन्दस्वरूप हैं और इस भौतिक प्रकृति द्वारा कभी कलुषित नहीं होते। वेदों द्वारा भी पुष्टि की जाती है कि भगवान् अजन्मा होकर भी अनेक रूपों में अवतरित होते रहते हैं। वैदिक साहित्यों से भी पुष्टि होती है कि यद्यपि भगवान् जन्म लेते प्रतीत होते हैं, किन्तु तो भी वे शरीर-परिवर्तन नहीं करते। *श्रीमद्भागवत* में वे अपनी माता के समक्ष नारायण रूप में चार भुजाओं तथा षड्ऐश्वर्यों से युक्त होकर प्रकट होते हैं। उनका आद्य शाश्वत रूप में प्राकट्य उनकी अहैतुकी कृपा है जो जीवों को प्रदान की जाती है जिससे वे भगवान् के यथारूप में अपना ध्यान केन्द्रित कर सकें न कि निर्विशेषवादियों द्वारा मनोधर्म या कल्पनाओं पर आधारित रूप में। विश्वकोश के अनुसार माया या आत्म-माया शब्द भगवान् की अहैतुकी कृपा का सूचक है। भगवान् अपने समस्त पूर्व आविर्भाव-तिरोभावों से अवगत रहते हैं, किन्तु सामान्य जीव को जैसे ही नवीन शरीर प्राप्त होता है वह अपने पूर्व शरीर के विषय में सब कुछ भूल जाता है। वे समस्त जीवों के स्वामी हैं, क्योंकि इस धरा पर रहते हुए वे आश्चर्यजनक तथा अतिमानवीय लीलाएँ करते रहते हैं। अतः भगवान् निरन्तर वही परम सत्य रूप हैं और उनके स्वरूप तथा आत्मा में या उनके गुण तथा शरीर में कोई अन्तर नहीं होता। अब यह प्रश्न किया जा सकता है कि इस संसार में

भगवान् क्यों आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं? अगले श्लोक में इसकी व्याख्या की गई है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

यदा यदा—जब भी और जहाँ भी; हि—निश्चय ही; धर्मस्य—धर्म की; ग्लानिः—हानि, पतन; भवति—होती है; भारत—हे भरतवंशी; अभ्युत्थानम्—प्रधानता; अधर्मस्य—अधर्म की; तदा—उस समय; आत्मानम्—अपने को; सृजामि—प्रकट करता हूँ; अहम्—मैं।

हे भरतवंशी! जब भी और जहाँ भी धर्म का पतन होता है और अधर्म की प्रधानता होने लगती है, तब तब मैं अवतार लेता हूँ।

तात्पर्य

यहाँ पर *सृजामि* शब्द महत्त्वपूर्ण है। सृजामि सृष्टि के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हो सकता, क्योंकि पिछले श्लोक के अनुसार भगवान् के स्वरूप या शरीर की सृष्टि नहीं होती, क्योंकि उनके सारे स्वरूप शाश्वत रूप से विद्यमान रहने वाले हैं। अतः *सृजामि* का अर्थ है कि भगवान् स्वयं यथारूप में प्रकट होते हैं। यद्यपि भगवान् कार्यक्रमानुसार अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन में सातवें मनु के २८वें युग में द्वापर के अन्त में प्रकट होते हैं, किन्तु वे इस नियम का पालन करने के लिए बाध्य नहीं हैं, क्योंकि वे स्वेच्छा से कर्म करने के लिए स्वतन्त्र हैं। अतः जब भी अधर्म की प्रधानता तथा धर्म का लोप होने लगता है, तो वे स्वेच्छा से प्रकट होते हैं। धर्म के नियम वेदों में दिये हुए हैं और यदि इन नियमों के पालन में कोई त्रुटि आती है तो मनुष्य अधार्मिक हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* में बताया गया है कि ऐसे नियम भगवान् के नियम हैं। केवल भगवान् ही किसी धर्म की व्यवस्था कर सकते हैं। वेद भी मूलतः ब्रह्मा के हृदय में से भगवान् द्वारा उच्चरित माने जाते हैं। अतः धर्म के नियम भगवान् के प्रत्यक्ष आदेश हैं (*धर्मं तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतम्*)। *भगवद्गीता* में आद्योपान्त इन्हीं नियमों का संकेत है। वेदों का उद्देश्य परमेश्वर के आदेशानुसार ऐसे नियमों की स्थापना करना

है और *गीता* के अन्त में भगवान् स्वयं आदेश देते हैं कि सर्वोच्च धर्म उनकी ही शरण ग्रहण करना है। वैदिक नियम जीव को पूर्ण शरणागति की ओर अग्रसर कराने वाले हैं और जब भी असुरों द्वारा इन नियमों में व्यवधान आता है तभी भगवान् प्रकट होते हैं। *श्रीमद्भागवत* पुराण से हम जानते हैं कि बुद्ध कृष्ण के अवतार हैं, जिनका प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब भौतिकतावाद का बोलबाला था और भौतिकतावादी लोग वेदों को प्रमाण बनाकर उसकी आड़ ले रहे थे। यद्यपि वेदों में विशिष्ट कार्यों के लिए पशु बलि के विषय में कुछ सीमित विधान थे, किन्तु आसुरी वृत्तिवाले लोग वैदिक नियमों का सन्दर्भ दिये बिना पशु-बलि को अपनाये हुए थे। भगवान् बुद्ध इस अनाचार को रोकने तथा अहिंसा के वैदिक नियमों की स्थापना करने के लिए अवतरित हुए। अत: भगवान् के प्रत्येक अवतार का विशेष उद्देश्य होता है और इन सबका वर्णन शास्त्रों में हुआ है। यह तथ्य नहीं है कि केवल भारत की धरती में भगवान् अवतरित होते हैं। वे कहीं भी और किसी भी काल में इच्छा होने पर प्रकट हो सकते हैं। वे प्रत्येक अवतार लेने पर धर्म के विषय में उतना ही कहते हैं, जितना कि उस परिस्थिति में जन-समुदाय विशेष समझ सकता है। लेकिन उद्देश्य एक ही रहता है—लोगों को ईशभावनाभावित करना तथा धार्मिक नियमों के प्रति आज्ञाकारी बनाना। कभी वे स्वयं प्रकट होते हैं तो कभी अपने प्रामाणिक प्रतिनिधि को अपने पुत्र या दास के रूप में भेजते हैं, या वेश बदल कर स्वयं ही प्रकट होते हैं।

भगवद्गीता के सिद्धान्त अर्जुन से कहे गये थे, अत: वे किसी भी महापुरुष के प्रति हो सकते थे, क्योंकि अर्जुन संसार के अन्य भागों के सामान्य पुरुषों की अपेक्षा अधिक जागरुक था। दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह गणितीय नियम प्राथमिक कक्षा के विद्यार्थी के लिए उतना ही सत्य है, जितना कि उच्च कक्षा के विद्यार्थी के लिए। तो भी गणित उच्चस्तर तथा निम्नस्तर का होता है। अत: भगवान् प्रत्येक अवतार में एक-जैसे सिद्धान्तों की शिक्षा देते हैं, जो परिस्थितियों के अनुसार उच्च या निम्न प्रतीत होते हैं। जैसा कि आगे बताया जाएगा धर्म के उच्चतर सिद्धान्त चारों वर्णाश्रमों को स्वीकार करने से प्रारम्भ होते हैं। अवतारों का एकमात्र उद्देश्य सर्वत्र

कृष्णभावनामृत को उद्बोधित करना है। परिस्थिति के अनुसार यह भावनामृत प्रकट तथा अप्रकट होता है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

परित्राणाय—उद्धार के लिए; **साधूनाम्**—भक्तों के; **विनाशाय**—संहार के लिए; **च**—तथा; **दुष्कृताम्**—दुष्टों के; **धर्म**—धर्म के; **संस्थापन-अर्थाय**—पुनः स्थापित करने के लिए; **सम्भवामि**—प्रकट होता हूँ; **युगे**—युग; **युगे**—युग में।

भक्तों का उद्धार करने, दुष्टों का विनाश करने तथा धर्म की फिर से स्थापना करने के लिए मैं हर युग में प्रकट होता हूँ।

तात्पर्य

भगवद्गीता के अनुसार साधु (पवित्र पुरुष) कृष्णभावनाभावित व्यक्ति है। अधार्मिक लगने वाले व्यक्ति में भी यदि पूर्ण कृष्णचेतना हो, तो उसे साधु समझना चाहिए। *दुष्कृताम्* उन व्यक्तियों के लिए आया है जो कृष्णभावनामृत की परवाह नहीं करते। ऐसे दुष्कृताम् या उपद्रवी, मूर्ख तथा अधम व्यक्ति कहलाते हैं, भले ही वे सांसारिक शिक्षा से विभूषित क्यों न हों। इसके विपरीत यदि कोई शत-प्रतिशत कृष्णभावनामृत में लगा रहता है तो वह विद्वान् या सुसंस्कृत न भी हो फिर भी वह साधु माना जाता है। जहाँ तक अनीश्वरवादियों का प्रश्न है, भगवान् के लिए आवश्यक नहीं कि वे इनके विनाश के लिए उस रूप में अवतरित हों जिस रूप में वे रावण तथा कंस का वध करने के लिए हुए थे। भगवान् के ऐसे अनेक अनुचर हैं जो असुरों का संहार करने में सक्षम हैं। किन्तु भगवान् तो अपने उन निष्काम भक्तों को तुष्ट करने के लिए विशेष रूप से अवतार लेते हैं जो असुरों द्वारा निरन्तर तंग किये जाते हैं। असुर भक्त को तंग करता है, भले ही वह उसका सगा-सम्बन्धी क्यों न हो। यद्यपि प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिपु के पुत्र थे, किन्तु तो भी वे अपने पिता द्वारा उत्पीड़ित थे। इसी प्रकार कृष्ण की माता देवकी यद्यपि कंस की बहन थीं, किन्तु उन्हें तथा उनके पति वसुदेव को इसलिए दण्डित किया गया था क्योंकि उनसे कृष्ण को जन्म लेना था। अतः भगवान् कृष्ण मुख्यतः देवकी के उद्धार

करने के लिए प्रकट हुए थे, कंस को मारने के लिए नहीं। किन्तु ये दोनों कार्य एकसाथ सम्पन्न हो गये। अत: यह कहा जाता है कि भगवान् भक्त का उद्धार करने तथा दुष्ट असुरों का संहार करने के लिए विभिन्न अवतार लेते हैं।

कृष्णदास कविराज कृत *चैतन्य चरितामृत* के निम्नलिखित श्लोकों (मध्य २०.२६३-२६४) से अवतार के सिद्धान्तों का सारांश प्रकट होता है—

सृष्टिहेतु एइ मूर्ति प्रपञ्चे अवतरे।
सेइ ईश्वरमूर्ति 'अवतार' नाम धरे॥
मायातीत परव्योमे सबार अवस्थान।
विश्वे अवतरि' धरे 'अवतार' नाम॥

''अवतार अथवा ईश्वर का अवतार भगवद्धाम से भौतिक प्राक्ट्य हेतु होता है। ईश्वर का वह विशिष्ट रूप जो इस प्रकार अवतरित होता है अवतार कहलाता है। ऐसे अवतार भगवद्धाम में स्थित रहते हैं। जब वे भौतिक सृष्टि में उतरते हैं, तो उन्हें अवतार कहा जाता है।''

अवतार कई तरह के होते हैं यथा पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, शक्त्यावेश अवतार, मन्वन्तर अवतार तथा युगावतार—इन सबका इस ब्रह्माण्ड में क्रमानुसार अवतरण होता है। किन्तु भगवान् कृष्ण आदि भगवान् हैं और समस्त अवतारों के उद्‍गम हैं। भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध भक्तों की चिन्ताओं को दूर करने के विशिष्ट प्रयोजन से अवतार लेते हैं, जो उन्हें उनकी मूल वृन्दावन लीलाओं के रूप में देखने के उत्सुक रहते हैं। अत: कृष्ण अवतार का मूल उद्देश्य अपने निष्काम भक्तों को प्रसन्न करना है।

भगवान् का वचन है कि वे प्रत्येक युग में अवतरित होते रहते हैं। इससे सूचित होता है कि वे कलियुग में भी अवतार लेते हैं। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि कलियुग के अवतार भगवान् चैतन्य महाप्रभु हैं जिन्होंने संकीर्तन आन्दोलन के द्वारा कृष्णपूजा का प्रसार किया और पूरे भारत में कृष्णभावनामृत का विस्तार किया। उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि संकीर्तन की यह संस्कृति सारे विश्व के नगर-नगर तथा ग्राम-ग्राम में फैलेगी। भगवान् चैतन्य को गुप्त रूप में, किन्तु प्रकट रूप में नहीं, उपनिषदों, महाभारत तथा भागवत जैसे शास्त्रों के गुह्य अंशों

में वर्णित किया गया है। भगवान् कृष्ण के भक्तगण भगवान् चैतन्य के संकीर्तन आन्दोलन द्वारा अत्यधिक आकर्षित रहते हैं। भगवान् का यह अवतार दुष्टों का विनाश नहीं करता, अपितु अपनी अहैतुकी कृपा से उनका उद्धार करता है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९॥

शब्दार्थ

जन्म—जन्म; कर्म—कर्म; च—भी; मे—मेरे; दिव्यम्—दिव्य; एवम्—इस प्रकार; यः—जो कोई; वेत्ति—जानता है; तत्त्वतः—वास्तविकता में; त्यक्त्वा—छोड़कर; देहम्—इस शरीर को; पुनः—फिर; जन्म—जन्म; न—कभी नहीं; एति—प्राप्त करता है; माम्—मुझको; एति—प्राप्त करता है; सः—वह; अर्जुन—हे अर्जुन।

हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस भौतिक संसार में पुनः जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।

तात्पर्य

छठे श्लोक में भगवान् के दिव्यधाम से उनके अवतरण की व्याख्या हो चुकी है। जो मनुष्य भगवान् के आविर्भाव के सत्य को समझ लेता है वह इस भवबन्धन से मुक्त हो जाता है और इस शरीर को छोड़ते ही वह तुरन्त भगवान् के धाम को लौट जाता है। भवबन्धन से जीव की ऐसी मुक्ति सरल नहीं है। निर्विशेषवादी तथा योगीजन पर्याप्त कष्ट तथा अनेकानेक जन्मों के बाद ही मुक्ति प्राप्त कर पाते हैं। इतने पर भी उन्हें जो मुक्ति भगवान् की निराकार ब्रह्मज्योति में तादात्म्य प्राप्त करने के रूप में मिलती है, वह आंशिक होती है और इस भौतिक संसार में लौट आने का भय बना रहता है। किन्तु भगवान् के शरीर की दिव्य प्रकृति तथा उनके कार्यकलापों को समझने मात्र से भक्त इस शरीर का अन्त होने पर भगवद्धाम को प्राप्त करता है और उसे इस संसार में लौट आने का भय नहीं रह जाता। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३३) यह बताया गया है कि भगवान् के

अनेक रूप तथा अवतार हैं—*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्।* यद्यपि भगवान् के अनेक दिव्य रूप हैं, किन्तु फिर भी वे अद्वय भगवान् हैं। इस तथ्य को विश्वासपूर्वक समझना चाहिए, यद्यपि यह संसारी विद्वानों तथा ज्ञानयोगियों के लिए अगम्य है। जैसा कि वेदों (*पुरुष बोधिनी उपनिषद्*) में कहा गया है—

एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी हृद्यन्तरात्मा॥

"एक भगवान् अपने निष्काम भक्तों के साथ अनेकानेक दिव्य रूपों में सदैव सम्बन्धित हैं।" इस वेदवचन की स्वयं भगवान् ने *गीता* के इस श्लोक में पुष्टि की है। जो इस सत्य को वेद तथा भगवान् के प्रमाण के आधार पर स्वीकार करता है और शुष्क चिन्तन में समय नहीं गँवाता वह मुक्ति की चरम सिद्धि प्राप्त करता है। इस सत्य को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करने से मनुष्य निश्चित रूप से मुक्ति-लाभ कर सकता है। इस प्रसंग में वैदिकवाक्य *तत्त्वमसि* लागू होता है। जो कोई भगवान् कृष्ण को परब्रह्म करके जानता है या उनसे यह कहता है कि "आप वही परब्रह्म श्रीभगवान् हैं" वह निश्चित रूप से अविलम्ब मुक्त हो जाता है, फलस्वरूप उसे भगवान् की दिव्यसंगति की प्राप्ति निश्चित हो जाती है। दूसरे शब्दों में, ऐसा श्रद्धालु भगवद्भक्त सिद्धि प्राप्त करता है। इसकी पुष्टि निम्नलिखित वेदवचन से होती है—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

"श्रीभगवान् को जान लेने से ही मनुष्य जन्म तथा मृत्यु से मुक्ति की पूर्ण अवस्था प्राप्त कर सकता है। इस सिद्धि को प्राप्त करने का कोई अन्य विकल्प नहीं है।" (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ३.८) इसका कोई विकल्प नहीं है का अर्थ यही है कि जो श्रीकृष्ण को श्रीभगवान् के रूप में नहीं मानता वह अवश्य ही तमोगुणी है और मधुपात्र को केवल बाहर से चाटकर या *भगवद्गीता* की विद्वत्तापूर्ण संसारी विवेचना करके मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसे शुष्क दार्शनिक भौतिक जगत् में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले हो सकते हैं, किन्तु वे मुक्ति के अधिकारी नहीं होते। ऐसे अभिमानी संसारी विद्वानों को भगवद्भक्त की अहैतुकी कृपा की प्रतीक्षा करनी पड़ती

है। अतः मनुष्य को चाहिए कि श्रद्धा तथा ज्ञान के साथ कृष्णभावनामृत का अनुशीलन करे और सिद्धि प्राप्त करने का यही उपाय है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

वीत—मुक्त; राग—आसक्ति; भय—भय; क्रोधाः—तथा क्रोध से; मत्-मया—पूर्णतया मुझमें; माम्—मुझमें; उपाश्रिताः—पूर्णतया स्थित; बहवः—अनेक; ज्ञान—ज्ञान की; तपसा—तपस्या से; पूताः—पवित्र हुआ; मत्-भावम्—मेरे प्रति दिव्य प्रेम को; आगताः—प्राप्त।

आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त होकर, मुझमें पूर्णतया तन्मय होकर और मेरी शरण में आकर बहुत से व्यक्ति भूत काल में मेरे ज्ञान से पवित्र हो चुके हैं। इस प्रकार से उन सबों ने मेरे प्रति दिव्यप्रेम को प्राप्त किया है।

तात्पर्य

जैसा कि पहले कहा जा चुका है विषयों में आसक्त व्यक्ति के लिए परम सत्य के स्वरूप को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। सामान्यतया जो लोग देहात्मबुद्धि में आसक्त होते हैं, वे भौतिकतावाद में इतने लीन रहते हैं कि उनके लिए यह समझ पाना असम्भव सा है कि परमात्मा व्यक्ति भी हो सकता है। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्ति इसकी कल्पना तक नहीं कर पाते कि ऐसा भी दिव्य शरीर है जो नित्य तथा सच्चिदानन्दमय है। भौतिकतावादी धारणा के अनुसार शरीर नाशवान्, अज्ञानमय तथा अत्यन्त दुखमय होता है। अतः जब लोगों को भगवान् के साकार रूप के विषय में बताया जाता है तो उनके मन में शरीर की यही धारणा बनी रहती है। ऐसे भौतिकतावादी पुरुषों के लिए विराट भौतिक जगत् का स्वरूप ही परमतत्त्व है। फलस्वरूप वे परमेश्वर को निराकार मानते हैं और भौतिकता में इतने तल्लीन रहते हैं कि भौतिक पदार्थ से मुक्ति के बाद भी अपना स्वरूप बनाये रखने के विचार से डरते हैं। जब उन्हें यह बताया जाता है कि आध्यात्मिक जीवन भी व्यक्तिगत तथा साकार होता है तो वे पुनः व्यक्ति

बनने से भयभीत हो उठते हैं, फलत: वे निराकार शून्य में तदाकार होना पसन्द करते हैं। सामान्यतया वे जीवों की तुलना समुद्र के बुलबुलों से करते हैं, जो टूटने पर समुद्र में ही लीन हो जाते हैं। पृथक् व्यक्तित्व से रहित आध्यात्मिक जीवन की यह चरम सिद्धि है। यह जीवन की भयावह अवस्था है, जो आध्यात्मिक जीवन के पूर्णज्ञान से रहित है। इसके अतिरिक्त ऐसे बहुत से मनुष्य हैं जो आध्यात्मिक जीवन को तनिक भी नहीं समझ पाते। अनेक वादों तथा दार्शनिक चिन्तन की विविध विसंगतियों से परेशान होकर वे ऊब उठते हैं या क्रुद्ध हो जाते हैं और मूर्खतावश यह निष्कर्ष निकालते हैं कि परम कारण जैसा कुछ नहीं है, अत: प्रत्येक वस्तु अन्ततोगत्वा शून्य है। ऐसे लोग जीवन की रुग्णावस्था में होते हैं। कुछ लोग भौतिकता में इतने आसक्त रहते हैं कि वे आध्यात्मिक जीवन की ओर कोई ध्यान नहीं देते और कुछ लोग तो निराशावश सभी प्रकार के आध्यात्मिक चिन्तनों से क्रुद्ध होकर प्रत्येक वस्तु पर अविश्वास करने लगते हैं। इस अन्तिम कोटि के लोग किसी न किसी मादक वस्तु का सहारा लेते हैं और उनके मति-विभ्रम को कभी-कभी आध्यात्मिक दृष्टि मान लिया जाता है। मनुष्य को भौतिक जगत् के प्रति आसक्ति की तीनों अवस्थाओं से छुटकारा पाना होता है—ये हैं आध्यात्मिक जीवन की उपेक्षा, आध्यात्मिक साकार रूप का भय तथा जीवन की हताशा से उत्पन्न शून्यवाद की कल्पना। जीवन की इन तीनों अवस्थाओं से छुटकारा पाने के लिए प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में भगवान् की शरण ग्रहण करना और भक्तिमय जीवन के नियम तथा विधि-विधानों का पालन करना आवश्यक है। भक्तिमय जीवन की अन्तिम अवस्था *भाव* या दिव्य ईश्वरीय प्रेम कहलाती है।

भक्तिरसामृतसिन्धु (१.४.१५-१६) के अनुसार भक्ति का विज्ञान इस प्रकार है—

आदौ श्रद्धा तत: साधुसंगोऽथ भजनक्रिया
ततोऽनर्थनिवृत्ति: स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्तत: ।
अथासक्तिस्ततो भावस्तत: प्रेमाभ्युदञ्चति
साधकानामयं प्रेम्ण: प्रादुर्भावे भवेत्क्रम: ॥

"प्रारम्भ में आत्म-साक्षात्कार की सामान्य इच्छा होनी चाहिए। इससे मनुष्य ऐसे व्यक्तियों की संगति करने का प्रयास करता है जो आध्यात्मिक दृष्टि से उठे हुए हैं। अगली अवस्था में गुरु से दीक्षित होकर नवदीक्षित भक्त उसके आदेशानुसार भक्तियोग प्रारम्भ करता है। इस प्रकार सद्गुरु के निर्देश में भक्ति करते हुए वह समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त हो जाता है, उसके आत्म-साक्षात्कार में स्थिरता आती है और वह श्रीभगवान् कृष्ण के विषय में श्रवण करने के लिए रुचि विकसित करता है। इस रुचि से आगे चलकर कृष्णभावनामृत में आसक्ति उत्पन्न होती है जो भाव में अथवा भगवत्प्रेम के प्रथम सोपान में परिपक्व होती है। ईश्वर के प्रति प्रेम ही जीवन की सार्थकता है।" प्रेम-अवस्था में भक्त भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लीन रहता है। अत: भक्ति की मन्द विधि से प्रामाणिक गुरु के निर्देश में सर्वोच्च अवस्था प्राप्त की जा सकती है और समस्त भौतिक आसक्ति, व्यक्तिगत आध्यात्मिक स्वरूप के भय तथा शून्यवाद से उत्पन्न हताशा से मुक्त हुआ जा सकता है। तभी मनुष्य को अन्त में भगवान् के धाम की प्राप्ति हो सकती है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश: ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; **यथा**—जिस तरह; **माम्**—मेरी; **प्रपद्यन्ते**—शरण में जाते हैं; **तान्**—उनको; **तथा**—उसी तरह; **एव**—निश्चय ही; **भजामि**—फल देता हूँ; **अहम्**—मैं; **मम**—मेरे; **वर्त्म**—पथ का; **अनुवर्तन्ते**—अनुगमन करते हैं; **मनुष्या:**—सारे मनुष्य; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **सर्वश:**—सभी प्रकार से।

जिस भाव से सारे लोग मेरी शरण ग्रहण करते हैं, उसी के अनुरूप मैं उन्हें फल देता हूँ। हे पार्थ! प्रत्येक व्यक्ति सभी प्रकार से मेरे पथ का अनुगमन करता है।

तात्पर्य

प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण को उनके विभिन्न स्वरूपों में खोज रहा है। भगवान् श्रीकृष्ण को अंशत: उनके निर्विशेष ब्रह्मज्योति तेज में तथा प्रत्येक वस्तु के कण-कण में रहने वाले सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में अनुभव किया जाता

है, लेकिन कृष्ण का पूर्ण साक्षात्कार तो उनके शुद्ध भक्त ही कर पाते हैं। फलत: कृष्ण प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति के विषय हैं और इस तरह कोई भी और सभी अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार तुष्ट होते हैं। दिव्य जगत् में भी कृष्ण अपने शुद्ध भक्तों के साथ दिव्य भाव से विनिमय करते हैं जिस तरह कि भक्त उन्हें चाहता है। कोई एक भक्त कृष्ण को परम स्वामी के रूप में चाह सकता है, दूसरा अपने सखा के रूप में, तीसरा अपने पुत्र के रूप में और चौथा अपने प्रेमी के रूप में। कृष्ण सभी भक्तों को समान रूप से उनके प्रेम की प्रगाढ़ता के अनुसार फल देते हैं। भौतिक जगत् में भी ऐसी ही विनिमय की अनुभूतियाँ होती हैं और वे विभिन्न प्रकार के भक्तों के अनुसार भगवान् द्वारा समभाव से विनिमय की जाती हैं। शुद्ध भक्त यहाँ पर और दिव्यधाम में भी कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करते हैं और भगवान् की साकार सेवा कर सकते हैं। इस तरह वे उनकी प्रेमाभक्ति का दिव्य आनन्द प्राप्त करते हैं। किन्तु जो निर्विशेषवादी हैं और जो जीवात्मा के अस्तित्व को मिटाकर आध्यात्मिक आत्मघात करना चाहते हैं, कृष्ण उनको भी अपने तेज में लीन करके उनकी सहायता करते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी सच्चिदानन्द भगवान् को स्वीकार नहीं करते, फलत: वे अपने व्यक्तित्व को मिटाकर भगवान् की दिव्य सगुण भक्ति के आनन्द को प्राप्त नहीं करते। उनमें से कुछ जो निर्विशेष सत्ता में दृढ़तापूर्वक स्थित नहीं हो पाते, वे अपनी कार्य करने की सुप्त इच्छाओं को प्रदर्शित करने के लिए इस भौतिक क्षेत्र में वापस आते हैं। उन्हें वैकुण्ठलोक में प्रवेश करने नहीं दिया जाता, किन्तु उन्हें भौतिक लोक में कार्य करने का अवसर प्रदान किया जाता है। जो सकामकर्मी हैं, भगवान् उन्हें यज्ञेश्वर के रूप में उनके कर्मों का वांछित फल देते हैं। जो योगी हैं और योगशक्ति की खोज में रहते हैं, उन्हें योगशक्ति प्रदान करते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति की सफलता भगवान् की कृपा पर आश्रित रहती है और समस्त प्रकार की आध्यात्मिक विधियाँ एक ही पथ में सफलता की विभिन्न कोटियाँ हैं। अत: जब तक कोई कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च सिद्धि तक नहीं पहुँच जाता तब तक सारे प्रयास अपूर्ण रहते हैं, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में (२.३.१०) कहा गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
"मनुष्य चाहे निष्काम हो या फल का इच्छुक हो या मुक्ति का इच्छुक ही क्यों न हो, उसे पूरे सामर्थ्य से भगवान् की सेवा करनी चाहिए जिससे उसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सके, जिसका पर्यवसान कृष्णभावनामृत में होता है।"

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

काङ्क्षन्तः—चाहते हुए; **कर्मणाम्**—सकाम कर्मों की; **सिद्धिम्**—सिद्धि; **यजन्ते**—यज्ञों द्वारा पूजा करते हैं; **इह**—इस भौतिक जगत् में; **देवताः**—देवतागण; **क्षिप्रम्**—तुरन्त ही; **हि**—निश्चय ही; **मानुषे**—मानव समाज में; **लोके**—इस संसार में; **सिद्धिः**—सिद्धि, सफलता; **भवति**—होती है; **कर्म-जा**—सकाम कर्म से।

इस संसार में मनुष्य सकाम कर्मों में सिद्धि चाहते हैं, फलस्वरूप वे देवताओं की पूजा करते हैं। निस्सन्देह इस संसार में मनुष्यों को सकाम कर्म का फल शीघ्र प्राप्त होता है।

तात्पर्य

इस जगत् के देवताओं के विषय में भ्रान्त धारणा है और विद्वत्ता का दम्भ करने वाले अल्पज्ञ मनुष्य इन देवताओं को परमेश्वर के विभिन्न रूप मान बैठते हैं। वस्तुतः ये देवता ईश्वर के विभिन्न रूप नहीं होते, किन्तु वे ईश्वर के विभिन्न अंश होते हैं। ईश्वर तो एक है, किन्तु अंश अनेक हैं। वेदों का कथन है—*नित्यो नित्यानाम्*। ईश्वर एक है। *ईश्वरः परमः कृष्णः*। कृष्ण ही एकमात्र परमेश्वर हैं और सभी देवताओं को इस भौतिक जगत् का प्रबन्ध करने के लिए शक्तियाँ प्राप्त हैं। ये देवता जीवात्माएँ हैं (*नित्यानाम्*) जिन्हें विभिन्न मात्रा में भौतिक शक्ति प्राप्त है। वे कभी परमेश्वर—नारायण, विष्णु या कृष्ण के तुल्य नहीं हो सकते। जो व्यक्ति ईश्वर तथा देवताओं को एक स्तर पर सोचता है, वह नास्तिक या पाषंडी कहलाता है। यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा शिवजी जैसे बड़े-बड़े देवता भी परमेश्वर की समता नहीं कर

सकते। वास्तव में ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं द्वारा भगवान् की पूजा की जाती है (*शिवविरिञ्चिनुतम्*)। तो भी आश्चर्य की बात यह है कि अनेक मूर्ख लोग मनुष्यों के नेताओं की पूजा उन्हें अवतार मान कर करते हैं। *इह देवताः* पद इस संसार के शक्तिशाली मनुष्य या देवता के लिए आया है, लेकिन नारायण, विष्णु या कृष्ण जैसे भगवान् इस संसार के नहीं हैं। वे भौतिक सृष्टि से परे रहने वाले हैं। निर्विशेषवादियों के अग्रणी श्रीपाद शंकराचार्य तक मानते हैं कि नारायण या कृष्ण इस भौतिक सृष्टि से परे हैं फिर भी मूर्ख लोग (*हृतज्ञान*) देवताओं की पूजा करते हैं, क्योंकि वे तत्काल फल चाहते हैं। उन्हें फल मिलता भी है, किन्तु वे यह नहीं जानते कि ऐसे फल क्षणिक होते हैं और अल्पज्ञ मनुष्यों के लिए हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति कृष्णभावनामृत में स्थित रहता है। उसे किसी तत्काल क्षणिक लाभ के लिए किसी तुच्छ देवता की पूजा करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस संसार के देवता तथा उनके पूजक, इस संसार के संहार के साथ ही विनष्ट हो जाएँगे। देवताओं के वरदान भी भौतिक तथा क्षणिक होते हैं। यह भौतिक संसार तथा इसके निवासी, जिनमें देवता तथा उनके पूजक भी सम्मिलित हैं, विराट सागर में बुलबुलों के समान हैं। किन्तु इस संसार में मानव समाज क्षणिक वस्तुओं—यथा सम्पत्ति, परिवार तथा भोग की सामग्री के पीछे पागल रहता है। ऐसी क्षणिक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए लोग देवताओं की या मानव समाज के शक्तिशाली व्यक्तियों की पूजा करते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी राजनीतिक नेता की पूजा करके सरकार में मन्त्रिपद प्राप्त कर लेता है, तो वह सोचता है कि उसने महान वरदान प्राप्त कर लिया है। इसलिए सभी व्यक्ति तथाकथित नेताओं को साष्टांग प्रणाम करते हैं, जिससे वे क्षणिक वरदान प्राप्त कर सकें और सचमुच उन्हें ऐसी वस्तुएँ मिल भी जाती हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्ति इस संसार के कष्टों के स्थायी निवारण के लिए कृष्णभावनामृत में अभिरुचि नहीं दिखाते। वे सभी इन्द्रियभोग के पीछे दीवाने रहते हैं और थोड़े से इन्द्रियसुख के लिए वे शक्तिप्रदत्त-जीवों की पूजा करते हैं, जिन्हें देवता कहते हैं। यह श्लोक इंगित करता है कि विरले लोग ही कृष्णभावनामृत में रुचि लेते हैं।

अधिकांश लोग भौतिक भोग में रुचि लेते हैं, फलस्वरूप वे किसी न किसी शक्तिशाली व्यक्ति की पूजा करते हैं।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

चातुः-वर्ण्यम्—मानव समाज के चार विभाग; **मया**—मेरे द्वारा; **सृष्टम्**—उत्पन्न किये हुए; **गुण**—गुण; **कर्म**—तथा कर्म का; **विभागशः**—विभाजन के अनुसार; **तस्य**—उसका; **कर्तारम्**—जनक; **अपि**—यद्यपि; **माम्**—मुझको; **विद्धि**—जानो; **अकर्तारम्**—न करने वाले के रूप में; **अव्ययम्**—अपरिवर्तनीय को।

प्रकृति के तीनों गुणों और उनसे सम्बद्ध कर्म के अनुसार मेरे द्वारा मानव समाज के चार विभाग रचे गये। यद्यपि मैं इस व्यवस्था का स्रष्टा हूँ, किन्तु तुम यह जान लो कि मैं इतने पर भी अव्यय अकर्ता हूँ।

तात्पर्य

भगवान् प्रत्येक वस्तु के स्रष्टा हैं। प्रत्येक वस्तु उनसे उत्पन्न है, उनके ही द्वारा पालित है और प्रलय के बाद प्रत्येक वस्तु उन्हीं में समा जाती है। अतः वे ही वर्णाश्रम व्यवस्था के स्रष्टा हैं जिसमें सर्वप्रथम बुद्धिमान् मनुष्यों का वर्ग आता है जो सतोगुणी होने के कारण ब्राह्मण कहलाते हैं। द्वितीय वर्ग प्रशासक वर्ग का है जिन्हें रजोगुणी होने के कारण क्षत्रिय कहा जाता है। वणिक वर्ग या वैश्य कहलाने वाले लोग रजो तथा तमोगुण के मिश्रण से युक्त होते हैं और शूद्र या श्रमिकवर्ग के लोग तमोगुणी होते हैं। मानव समाज के इन चार विभागों की सृष्टि करने पर भी भगवान् कृष्ण इनमें से किसी विभाग (वर्ण) में नहीं आते, क्योंकि वे उन बद्धजीवों में से नहीं हैं जिनका एक अंश मानव समाज के रूप में है। मानव समाज भी किसी अन्य पशुसमाज के तुल्य है, किन्तु मनुष्यों को पशु-स्तर से ऊपर उठाने के लिए ही उपर्युक्त वर्णाश्रम की रचना की गई, जिससे क्रमिक रूप से कृष्णभावनामृत विकसित हो सके। किसी विशेष व्यक्ति की किसी कार्य के प्रति प्रवृत्ति का निर्धारण उसके द्वारा अर्जित प्रकृति के गुणों द्वारा किया

जाता है। गुणों के अनुसार जीवन के लक्षणों का वर्णन इस ग्रंथ के अठारहवें अध्याय में हुआ है। किन्तु कृष्णभावनाभावित व्यक्ति ब्राह्मण से भी बढ़कर होता है। यद्यपि गुण के अनुसार ब्राह्मण को ब्रह्म या परम सत्य के विषय में ज्ञान होना चाहिए, किन्तु उनमें से अधिकांश भगवान् कृष्ण के निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप को ही प्राप्त कर पाते हैं, किन्तु जो मनुष्य ब्राह्मण के सीमित ज्ञान को लाँघकर भगवान् श्रीकृष्ण के ज्ञान तक पहुँच जाता है, वही कृष्णभावनाभावित होता है अर्थात् वैष्णव होता है। कृष्णभावनामृत में कृष्ण के विभिन्न अंशों यथा राम, नृसिंह, वराह आदि का ज्ञान सम्मिलित रहता है। और जिस तरह कृष्ण मानव समाज की इस चातुर्वर्ण्य प्रणाली से परे हैं, उसी तरह कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भी इस चातुर्वर्ण्य प्रणाली से परे होता है, चाहे हम इसे जाति का विभाग कहें, चाहे राष्ट्र अथवा सम्प्रदाय का।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; माम्—मुझको; कर्माणि—सभी प्रकार के कर्म; लिम्पन्ति—प्रभावित करते हैं; न—नहीं; मे—मेरी; कर्म-फले—सकाम कर्म में; स्पृहा—महत्त्वाकांक्षा; इति—इस प्रकार; माम्—मुझको; यः—जो; अभिजानाति—जानता है; कर्मभिः—ऐसे कर्म के फल से; न—कभी नहीं; सः—वह; बध्यते—बँध पाता है।

मुझ पर किसी कर्म का प्रभाव नहीं पड़ता, न ही मैं कर्मफल की कामना करता हूँ। जो मेरे सम्बन्ध में इस सत्य को जानता है, वह भी कर्मों के फल के पाश में नहीं बँधता।

तात्पर्य

जिस प्रकार इस भौतिक जगत् में संविधान के नियम हैं, जो यह बताते हैं कि राजा न तो दण्डनीय है, न ही किसी राजनियमों के अधीन रहता है उसी तरह यद्यपि भगवान् इस भौतिक जगत् के स्रष्टा हैं, किन्तु वे भौतिक जगत् के कार्यों से प्रभावित नहीं होते। सृष्टि करने पर भी वे इससे पृथक् रहते हैं, जबकि जीवात्माएँ भौतिक कार्यकलापों के सकाम कर्मफलों में बँधी रहती हैं, क्योंकि उनमें प्राकृतिक साधनों पर प्रभुत्व दिखाने की प्रवृत्ति

रहती है। किसी संस्थान का स्वामी कर्मचारियों के अच्छे-बुरे कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं, कर्मचारी इसके लिए स्वयं उत्तरदायी होते हैं। जीवात्माएँ अपने-अपने इन्द्रियतृप्ति-कार्यों में लगी रहती हैं, किन्तु ये कार्य भगवान् द्वारा निर्दिष्ट नहीं होते। इन्द्रियतृप्ति की उत्तरोत्तर उन्नति के लिए जीवात्माएँ इस संसार के कर्म में प्रवृत्त हैं और मृत्यु के बाद स्वर्ग-सुख की कामना करती रहती हैं। स्वयं में पूर्ण होने के कारण भगवान् को तथाकथित स्वर्ग-सुख का कोई आकर्षण नहीं रहता। स्वर्ग के देवता उनके द्वारा नियुक्त सेवक हैं। स्वामी कभी भी कर्मचारियों का सा निम्नस्तरीय सुख नहीं चाहता। वह भौतिक क्रिया-प्रतिक्रिया से पृथक् रहता है। उदाहरणार्थ, पृथ्वी पर उगने वाली विभिन्न वनस्पतियों के उगने के लिए वर्षा उत्तरदायी नहीं है, यद्यपि वर्षा के बिना वनस्पति नहीं उग सकती। वैदिक स्मृति से इस तथ्य की पुष्टि इस प्रकार होती है:

निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तय: ॥

''भौतिक सृष्टि के लिए भगवान् ही परम कारण हैं। प्रकृति तो केवल निमित्त कारण है, जिससे विराट जगत् दृष्टिगोचर होता है।'' प्राणियों की अनेक जातियाँ होती हैं यथा देवता, मनुष्य तथा निम्नपशु और ये सब पूर्व शुभाशुभ कर्मों के फल भोगने को बाध्य हैं। भगवान् उन्हें ऐसे कर्म करने के लिए केवल समुचित सुविधाएँ तथा प्रकृति के गुणों के नियम सुलभ कराते हैं, किन्तु वे उनके किसी भूत तथा वर्तमान कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं होते। *वेदान्तसूत्र* में (२.१.३४) पुष्टि हुई है कि *वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्*—भगवान् किसी भी जीव के प्रति पक्षपात नहीं करते। जीवात्मा अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। भगवान् उसे प्रकृति अर्थात् बहिरंगा शक्ति के माध्यम से केवल सुविधा प्रदान करने वाले हैं। जो व्यक्ति इस कर्म-नियम की सारी बारीकियों से भलीभाँति अवगत होता है, वह अपने कर्मों के फल से प्रभावित नहीं होता। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति भगवान् के इस दिव्य स्वभाव से परिचित होता है वह कृष्णभावनामृत में अनुभवी होता है। अत: उस पर कर्म के नियम लागू नहीं होते। जो व्यक्ति भगवान् के दिव्य स्वभाव को नहीं जानता और सोचता है कि भगवान् के

कार्यकलाप सामान्य व्यक्तियों की तरह कर्मफल के लिए होते हैं, वे निश्चित रूप से कर्मफलों में बँध जाते हैं। किन्तु जो परम सत्य को जानता है, वह कृष्णभावनामृत में स्थिर मुक्त जीव है।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; ज्ञात्वा—भलीभाँति जान कर; कृतम्—किया गया; कर्म—कर्म; पूर्वैः—पूर्ववर्ती; अपि—निस्सन्देह; मुमुक्षुभिः—मोक्ष प्राप्त व्यक्तियों द्वारा; कुरु—करो; कर्म—स्वधर्म, नियतकार्य; एव—निश्चय ही; तस्मात्—अतएव; त्वम्—तुम; पूर्वैः—पूर्ववर्तियों द्वारा; पूर्व-तरम्—प्राचीन काल में; कृतम्—सम्पन्न किया गया।

प्राचीन काल में समस्त मुक्तात्माओं ने मेरी दिव्य प्रकृति को जान करके ही कर्म किया, अतः तुम्हें चाहिए कि उनके पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए अपने कर्तव्य का पालन करो।

तात्पर्य

मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं। कुछ के मनों में दूषित विचार भरे रहते हैं और कुछ भौतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होते हैं। कृष्णभावनामृत इन दोनों श्रेणियों के व्यक्तियों के लिए समान रूप से लाभप्रद है। जिनके मनों में दूषित विचार भरे हैं उन्हें चाहिए कि भक्ति के अनुष्ठानों का पालन करते हुए क्रमिक शुद्धिकरण के लिए कृष्णभावनामृत को ग्रहण करें। और जिनके मन पहले ही ऐसी अशुद्धियों से स्वच्छ हो चुके हैं, वे उसी कृष्णभावनामृत में अग्रसर होते रहें, जिससे अन्य लोग उनके आदर्श कार्यों का अनुसरण कर सकें और लाभ उठा सकें। मूर्ख व्यक्ति या कृष्णभावनामृत में नवदीक्षित प्रायः कृष्णभावनामृत का पूरा ज्ञान प्राप्त किये बिना कार्य से विरत होना चाहते हैं। किन्तु भगवान् ने युद्धक्षेत्र के कार्य से विमुख होने की अर्जुन की इच्छा का समर्थन नहीं किया। आवश्यकता इस बात की है कि यह जाना जाय कि किस तरह कर्म किया जाय। कृष्णभावनामृत के कार्यों से विमुख होकर एकान्त में बैठकर कृष्णभावनामृत का प्रदर्शन करना कृष्ण के लिए कार्य में

रत होने की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर अर्जुन को सलाह दी जा रही है कि वह भगवान् के अन्य पूर्व शिष्यों-यथा सूर्यदेव विवस्वान् के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए कृष्णभावनामृत में कार्य करे। अत: वे उसे सूर्यदेव के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए आदेश देते हैं जिसे सूर्यदेव ने उनसे लाखों वर्ष पूर्व सीखा था। यहाँ पर भगवान् कृष्ण के ऐसे सारे शिष्यों का उल्लेख पूर्ववर्ती मुक्त पुरुषों के रूप में हुआ है, जो कृष्ण द्वारा नियत कर्मों को सम्पन्न करने में लगे हुए थे।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या है; कर्म—कर्म; किम्—क्या है; अकर्म—अकर्म, निष्क्रियता; इति—इस प्रकार; कवयः—बुद्धिमान्; अपि—भी; अत्र—इस विषय में; मोहिताः—मोहग्रस्त रहते हैं; तत्—वह; ते—तुमको; कर्म—कर्म; प्रवक्ष्यामि—कहूँगा; यत्—जिसे; ज्ञात्वा—जानकर; मोक्ष्यसे—तुम्हारा उद्धार होगा; अशुभात्—अकल्याण से, अशुभ से।

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इसे निश्चित करने में बुद्धिमान् व्यक्ति भी मोहग्रस्त हो जाते हैं। अतएव मैं तुमको बताऊँगा कि कर्म क्या है, जिसे जानकर तुम सारे अशुभ से मुक्त हो सकोगे।

तात्पर्य

कृष्णभावनामृत में जो कर्म किया जाय वह पूर्ववर्ती प्रामाणिक भक्तों के आदर्श के अनुसार होना चाहिए। इसका निर्देश १५वें श्लोक में किया गया है। ऐसा कर्म स्वतन्त्र क्यों नहीं होना चाहिए, इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

कृष्णभावनामृत में कर्म करने के लिए मनुष्य को उन प्रामाणिक पुरुषों के नेतृत्व का अनुगमन करना होता है, जो गुरु-परम्परा में हों, जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा जा चुका है। कृष्णभावनामृत पद्धति का उपदेश सर्वप्रथम सूर्यदेव को दिया गया, जिन्होंने इसे अपने पुत्र मनु से कहा, मनु ने इसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा और यह पद्धति तबसे इस पृथ्वी पर

चली आ रही है। अतः परम्परा के पूर्ववर्ती अधिकारियों के पदचिह्नों का अनुसरण करना आवश्यक है। अन्यथा बुद्धिमान् से बुद्धिमान् मनुष्य भी कृष्णभावनामृत के आदर्श कर्म के विषय में मोहग्रस्त हो जाते हैं। इसीलिए भगवान् ने स्वयं ही अर्जुन को कृष्णभावनामृत का उपदेश देने का निश्चय किया। अर्जुन को साक्षात् भगवान् ने शिक्षा दी, अतः जो भी अर्जुन के पदचिह्नों पर चलेगा वह कभी मोहग्रस्त नहीं होगा।

कहा जाता है कि अपूर्ण प्रायोगिक ज्ञान के द्वारा धर्म-पथ का निर्णय नहीं किया जा सकता। वस्तुतः धर्म को केवल भगवान् ही निश्चित कर सकते हैं। *धर्मं तु साक्षात्भगवत्प्रणीतम्* (*भागवत्* ६.३.१९)। अपूर्ण चिन्तन द्वारा कोई किसी धार्मिक सिद्धान्त का निर्माण नहीं कर सकता। मनुष्य को चाहिए कि ब्रह्मा, शिव, नारद, मनु, चारों कुमार, कपिल, प्रह्लाद, भीष्म, शुकदेव गोस्वामी, यमराज, जनक तथा बलि महाराज जैसे महान अधिकारियों के पदचिह्नों का अनुसरण करे। केवल मानसिक चिन्तन द्वारा यह निर्धारित करना कठिन है कि धर्म या आत्म-साक्षात्कार क्या है। अतः भगवान् अपने भक्तों पर अहैतुकी कृपावश स्वयं ही अर्जुन को बता रहे हैं कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है। केवल कृष्णभावनामृत में किया गया कर्म ही मनुष्य को भवबन्धन से उबार सकता है।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७॥

शब्दार्थ

कर्मणः—कर्म का; **हि**—निश्चय ही; **अपि**—भी; **बोद्धव्यम्**—समझना चाहिए; **बोद्धव्यम्**—समझना चाहिए; **च**—भी; **विकर्मणः**—वर्जित कर्म का; **अकर्मणः**—अकर्म का; **च**—भी; **बोद्धव्यम्**—समझना चाहिए; **गहना**—अत्यन्त कठिन, दुर्गम; **कर्मणः**—कर्म की; **गतिः**—प्रवेश, गति।

कर्म की बारीकियों को समझना अत्यन्त कठिन है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह यह ठीक से जाने कि कर्म क्या है, विकर्म क्या है और अकर्म क्या है।

तात्पर्य

यदि कोई सचमुच ही भव-बन्धन से मुक्ति चाहता है तो उसे कर्म, अकर्म तथा विकर्म के अन्तर को समझना होगा। कर्म, अकर्म तथा विकर्म के विश्लेषण की आवश्यकता है, क्योंकि यह अत्यन्त गहन विषय है। कृष्णभावनामृत को तथा गुणों के अनुसार कर्म को समझने के लिए परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को जानना होगा। दूसरे शब्दों में, जिसने यह भलीभाँति समझ लिया है, वह जानता है कि जीवात्मा भगवान् का नित्य दास है और फलस्वरूप उसे कृष्णभावनामृत में कार्य करना है। सम्पूर्ण *भगवद्गीता* का यही लक्ष्य है। इस भावनामृत के विरुद्ध सारे निष्कर्ष एवं परिणाम विकर्म या निषिद्ध कर्म हैं। इसे समझने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत के अधिकारियों की संगति करनी होती है और उनसे रहस्य को समझना होता है। यह साक्षात् भगवान् से समझने के समान है। अन्यथा बुद्धिमान् से बुद्धिमान् मनुष्य भी मोहग्रस्त हो जाएगा।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कर्मणि—**कर्म में**; **अकर्म**—**अकर्म**; **यः**—**जो**; **पश्येत्**—**देखता है**; **अकर्मणि**—**अकर्म में**; **च**—**भी**; **कर्म**—**सकाम कर्म**; **यः**—**जो**; **सः**—**वह**; **बुद्धि-मान्**—**बुद्धिमान् है**; **मनुष्येषु**—**मानव समाज में**; **सः**—**वह**; **युक्तः**—**दिव्य स्थिति को प्राप्त**; **कृत्स्न-कर्म-कृत्**—**सारे कर्मों में लगा रहकर भी**।

जो मनुष्य कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह सभी मनुष्यों में बुद्धिमान् है और सब प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त रहकर भी दिव्य स्थिति में रहता है।

तात्पर्य

कृष्णभावनामृत में कार्य करने वाला व्यक्ति स्वभावतः कर्म-बन्धन से मुक्त होता है। उसके सारे कर्म कृष्ण के लिए होते हैं, अतः कर्म के फल से उसे कोई लाभ या हानि नहीं होती। फलस्वरूप वह मानव समाज में बुद्धिमान् होता है, यद्यपि वह कृष्ण के लिए सभी तरह के कर्मों में लगा रहता है। अकर्म का अर्थ है—कर्म के फल के बिना। निर्विशेषवादी इस भय से सारे कर्म करना बन्द कर देता है, कि कर्मफल उसके आत्म-साक्षात्कार के मार्ग

में बाधक न हो, किन्तु सगुणवादी अपनी इस स्थिति से भलीभाँति परिचित रहता है कि वह भगवान् का नित्य दास है। अत: वह अपने आपको कृष्णभावनामृत के कार्यों में तत्पर रखता है। चूँकि सारे कर्म कृष्ण के लिए किये जाते हैं, अत: इस सेवा के करने में उसे दिव्य सुख प्राप्त होता है। जो इस विधि में लगे रहते हैं वे व्यक्तिगत इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से रहित होते हैं। कृष्ण के प्रति उसका नित्य दास्यभाव उसे सभी प्रकार के कर्मफल से मुक्त करता है।

यस्य सर्वे समारम्भा: कामसङ्कल्पवर्जिता: ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु: पण्डितं बुधा: ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसके; सर्वे—सभी प्रकार के; समारम्भा:—प्रयत्न, उद्यम; काम—इन्द्रियतृप्ति के लिए इच्छा पर आधारित; सङ्कल्प—निश्चय; वर्जिता:—से रहित हैं; ज्ञान—पूर्ण ज्ञान की; अग्नि—अग्नि द्वारा; दग्ध—भस्म हुए; कर्माणम्—जिसका कर्म; तम्—उसको; आहु:—कहते हैं; पण्डितम्—बुद्धिमान्; बुधा:—ज्ञानी।

जिस व्यक्ति का प्रत्येक प्रयास (उद्यम) इन्द्रियतृप्ति की कामना से रहित होता है, उसे पूर्णज्ञानी समझा जाता है। उसे ही साधु पुरुष ऐसा कर्ता कहते हैं, जिसने पूर्णज्ञान की अग्नि से कर्मफलों को भस्मसात् कर दिया है।

तात्पर्य

केवल पूर्णज्ञानी ही कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के कार्यकलापों को समझ सकता है। ऐसे व्यक्ति में इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति का अभाव रहता है, इससे यह समझा जाता है कि भगवान् के नित्य दास के रूप में उसे अपने स्वाभाविक स्वरूप का पूर्णज्ञान है जिसके द्वारा उसने अपने कर्मफलों को भस्म कर दिया है। जिसने ऐसा पूर्णज्ञान प्राप्त कर लिया है वह सचमुच विद्वान् है। भगवान् की नित्य दासता के इस ज्ञान के विकास की तुलना अग्नि से की गई है। ऐसी अग्नि एक बार प्रज्ज्वलित हो जाने पर कर्म के सारे फलों को भस्म कर सकती है।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

त्यक्त्वा—त्याग कर; कर्म-फल-आसङ्गम्—कर्मफल की आसक्ति; नित्य—सदा; तृप्तः—तृप्त; निराश्रयः—आश्रयरहित; कर्मणि—कर्म में; अभिप्रवृत्तः—पूर्ण तत्पर रह कर; अपि—भी; न—नहीं; एव—निश्चय ही; किञ्चित्—कुछ भी; करोति—करता है; सः—वह।

अपने कर्मफलों की सारी आसक्ति को त्याग कर सदैव संतुष्ट तथा स्वतन्त्र रहकर वह सभी प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहकर भी कोई सकाम कर्म नहीं करता।

तात्पर्य

कर्मों के बन्धन से इस प्रकार की मुक्ति तभी सम्भव है, जब मनुष्य कृष्णभावनाभावित होकर हर कार्य कृष्ण के लिए करे। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भगवान् के शुद्ध प्रेमवश ही कर्म करता है, फलस्वरूप उसे कर्मफलों के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहता। यहाँ तक कि उसे अपने शरीर-निर्वाह के प्रति भी कोई आकर्षण नहीं रहता, क्योंकि वह पूर्णतया कृष्ण पर आश्रित रहता है। वह न तो किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहता है और न अपनी वस्तुओं की रक्षा करना चाहता है। वह अपनी पूर्ण सामर्थ्य से अपना कर्तव्य करता है और कृष्ण पर सब कुछ छोड़ देता है। ऐसा अनासक्त व्यक्ति शुभ-अशुभ कर्मफलों से मुक्त रहता है, मानो वह कुछ भी नहीं कर रहा हो। यह अकर्म अर्थात् निष्काम कर्म का लक्षण है। अतः कृष्णभावनामृत से रहित कोई भी कार्य कर्ता पर बन्धनस्वरूप होता है और विकर्म का यही असली रूप है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

निराशीः—फल की आकांक्षा से रहित, निष्काम; यत—संयमित; चित्त-आत्मा—मन तथा बुद्धि; त्यक्त—छोड़ा; सर्व—समस्त; परिग्रहः—स्वामित्व; शारीरम्—प्राण रक्षा;

केवलम्—मात्र; कर्म—कर्म; कुर्वन्—करते हुए; न—कभी नहीं; आप्नोति—प्राप्त करता है; किल्बिषम्—पापपूर्ण फल।

ऐसा ज्ञानी पुरुष पूर्णरूप से संयमित मन तथा बुद्धि से कार्य करता है, अपनी सम्पत्ति के सारे स्वामित्व को त्याग देता है और केवल शरीर-निर्वाह के लिए कर्म करता है। इस तरह कार्य करता हुआ वह पाप रूपी फलों से प्रभावित नहीं होता है।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कर्म करते समय कभी भी शुभ या अशुभ फल की आशा नहीं रखता। उसके मन तथा बुद्धि पूर्णतया वश में होते हैं। वह जानता है कि वह परमेश्वर का भिन्न अंश है, अतः अंश रूप में उसके द्वारा सम्पन्न कोई भी कर्म उसका न होकर उसके माध्यम से परमेश्वर द्वारा सम्पन्न हुआ होता है। जब हाथ हिलता है तो यह स्वेच्छा से नहीं हिलता, अपितु सारे शरीर की चेष्टा से हिलता है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति भगवदिच्छा का अनुगामी होता है क्योंकि उसकी निजी इन्द्रियतृप्ति की कोई कामना नहीं होती। वह यन्त्र के एक पुर्जे की भाँति हिलता-डुलता है। जिस प्रकार रखरखाव के लिए पुर्जे को तेल और सफाई की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कर्म के द्वारा अपना निर्वाह करता रहता है, जिससे वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करने के लिए ठीक बना रहे। अतः वह अपने प्रयासों के फलों के प्रति निश्चेष्ट रहता है। पशु के समान ही उसका अपने शरीर पर कोई अधिकार नहीं होता। कभी-कभी क्रूर स्वामी अपने अधीन पशु को मार भी डालता है, तो भी पशु विरोध नहीं करता, न ही उसे कोई स्वाधीनता होती है। आत्म-साक्षात्कार में पूर्णतया तत्पर कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के पास इतना समय नहीं रहता कि वह अपने पास कोई भौतिक वस्तु रख सके। अपने जीवन-निर्वाह के लिए उसे अनुचित साधनों के द्वारा धनसंग्रह करने की आवश्यकता नहीं रहती। अतः वह ऐसे भौतिक पापों से कल्मषग्रस्त नहीं होता। वह अपने समस्त कर्मफलों से मुक्त रहता है।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यदृच्छा—स्वतः; लाभ—लाभ से; सन्तुष्टः—सन्तुष्ट; द्वन्द्व—द्वन्द्व से; अतीतः—परे; विमत्सरः—ईर्ष्यारहित; समः—स्थिरचित्त; सिद्धौ—सफलता में; असिद्धौ—असफलता में; च—भी; कृत्वा—करके; अपि—यद्यपि; न—कभी नहीं; निबध्यते—प्रभावित होता है, बँधता है।

जो स्वतः होने वाले लाभ से संतुष्ट रहता है, जो द्वन्द्व से मुक्त है और ईर्ष्या नहीं करता, जो सफलता तथा असफलता दोनों में स्थिर रहता है, वह कर्म करता हुआ भी कभी बँधता नहीं।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित व्यक्ति अपने शरीर-निर्वाह के लिए भी अधिक प्रयास नहीं करता। वह अपने आप होने वाले लाभों से संतुष्ट रहता है। वह न तो माँगता है, न उधार लेता है, किन्तु यथासामर्थ्य वह सच्चाई से कर्म करता है और अपने श्रम से जो प्राप्त हो पाता है, उसी से संतुष्ट रहता है। अतः वह अपनी जीविका के विषय में स्वतन्त्र रहता है। वह अन्य किसी की सेवा करके कृष्णभावनामृत सम्बन्धी अपनी सेवा में व्यवधान नहीं आने देता। किन्तु भगवान् की सेवा के लिए वह संसार की द्वैतता से विचलित हुए बिना कोई भी कर्म कर सकता है। संसार की यह द्वैतता गर्मी-सर्दी अथवा सुख-दुख के रूप में अनुभव की जाती है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति द्वैतता से परे रहता है, क्योंकि कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए वह कोई भी कर्म करने में झिझकता नहीं। अतः वह सफलता तथा असफलता दोनों में ही समभाव रहता है। ये लक्षण तभी दिखते हैं जब कोई दिव्य ज्ञान में पूर्णतः स्थित हो।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

गत-सङ्गस्य—प्रकृति के गुणों के प्रति अनासक्त; मुक्तस्य—मुक्त पुरुष का; ज्ञान-अवस्थित—ब्रह्म में स्थित; चेतसः—जिसका ज्ञान; यज्ञाय—यज्ञ (कृष्ण) के लिए;

आचरतः—करते हुए; कर्म—कर्म; समग्रम्—सम्पूर्ण; प्रविलीयते—पूर्णरूप से विलीन हो जाता है।

जो पुरुष प्रकृति के गुणों के प्रति अनासक्त है और जो दिव्य ज्ञान में पूर्णतया स्थित है, उसके सारे कर्म ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

तात्पर्य

पूर्णरूपेण कृष्णभावनाभावित होने पर मनुष्य समस्त द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है और इस तरह भौतिक गुणों के कल्मष से भी मुक्त हो जाता है। वह इसीलिए मुक्त हो जाता है क्योंकि वह कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध की स्वाभाविक स्थिति को जानता है, फलस्वरूप उसका चित्त कृष्णभावनामृत से विचलित नहीं होता। अतएव वह जो कुछ भी करता है, वह आदिविष्णु कृष्ण के लिए होता है। अतः उसका सारा कर्म यज्ञरूप होता है, क्योंकि यज्ञ का उद्देश्य परम पुरुष विष्णु अर्थात् कृष्ण को प्रसन्न करना है। ऐसे यज्ञमय कर्म का फल निश्चय ही ब्रह्म में विलीन हो जाता है और मनुष्य को कोई भौतिक फल नहीं भोगना पड़ता है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—आध्यात्मिक; अर्पणम्—अर्पण; ब्रह्म—ब्रह्म; हविः—घृत; ब्रह्म—आध्यात्मिक; अग्नौ—हवन रूपी अग्नि में; ब्रह्मणा—आत्मा द्वारा; हुतम्—अर्पित; ब्रह्म—परमधाम; एव—निश्चय ही; तेन—उसके द्वारा; गन्तव्यम्—पहुँचने योग्य; ब्रह्म—आध्यात्मिक; कर्म—कर्म में; समाधिना—पूर्ण एकाग्रता के द्वारा।

जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में पूर्णतया लीन रहता है, उसे अपने आध्यात्मिक कर्मों के योगदान के कारण अवश्य ही भगवद्धाम की प्राप्ति होती है, क्योंकि उसमें हवन आध्यात्मिक होता है और हवि भी आध्यात्मिक होती है।

तात्पर्य

यहाँ इसका वर्णन किया गया है कि किस प्रकार कृष्णभावनाभावित कर्म करते हुए अन्ततोगत्वा आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त होता है। कृष्णभावनामृत विषयक विविध कर्म होते हैं, जिनका वर्णन अगले श्लोकों में किया गया है, किन्तु इस श्लोक में तो केवल कृष्णभावनामृत का सिद्धान्त वर्णित है। भौतिक कल्मष से ग्रस्त बद्धजीव को भौतिक वातावरण में ही कार्य करना पड़ता है, किन्तु फिर भी उसे ऐसे वातावरण से निकलना ही होगा। जिस विधि से वह ऐसे वातावरण से बाहर निकल सकता है, वह कृष्णभावनामृत है। उदाहरण के लिए, यदि कोई रोगी दूध की बनी वस्तुओं के अधिक खाने से पेट की गड़बड़ी से ग्रस्त हो जाता है तो उसे दही दिया जाता है, जो दूध ही से बनी अन्य वस्तु है। भौतिकता में ग्रस्त बद्धजीव का उपचार कृष्णभावनामृत के द्वारा ही किया जा सकता है जो यहाँ *गीता* में दिया हुआ है। यह विधि यज्ञ या विष्णु या कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए किये गये कार्य कहलाती है। भौतिक जगत् के जितने ही अधिक कार्य कृष्णभावनामृत में या केवल विष्णु के लिए किये जाते हैं पूर्ण तल्लीनता से वातावरण उतना ही अधिक आध्यात्मिक बनता रहता है। *ब्रह्म* शब्द का अर्थ है 'आध्यात्मिक'। भगवान् आध्यात्मिक हैं और उनके दिव्य शरीर की किरणें ब्रह्मज्योति कहलाती हैं—यही उनका आध्यात्मिक तेज है। प्रत्येक वस्तु इसी ब्रह्मज्योति में स्थित रहती है, किन्तु जब यह ज्योति माया या इन्द्रियतृप्ति द्वारा आच्छादित हो जाती है तो यह भौतिक ज्योति कहलाती है। यह भौतिक आवरण कृष्णभावनामृत द्वारा तुरन्त हटाया जा सकता है। अतएव कृष्णभावनामृत के लिए अर्पित हवि, ग्रहणकर्ता, हवन, होता तथा फल—ये सब मिलकर ब्रह्म या परम सत्य हैं। माया द्वारा आच्छादित परम सत्य पदार्थ कहलाता है। जब यही पदार्थ परम सत्य के निमित्त प्रयुक्त होता है, तो इसमें फिर से आध्यात्मिक गुण आ जाता है। कृष्णभावनामृत मोहजनित चेतना को ब्रह्म या परमेश्वरोन्मुख करने की विधि है। जब मन कृष्णभावनामृत में पूरी तरह निमग्न रहता है तो उसे समाधि कहते हैं। ऐसी दिव्यचेतना में सम्पन्न कोई भी कार्य यज्ञ कहलाता है। आध्यात्मिक चेतना की ऐसी स्थिति में होता, हवन, अग्नि, यज्ञकर्ता तथा अन्तिम फल—यह सब परब्रह्म में एकाकार हो जाता है। यही कृष्णभावनामृत की विधि है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

दैवम्—देवताओं की पूजा करने में; एव—इस प्रकार; अपरे—अन्य; यज्ञम्—यज्ञ को; योगिनः—योगीजन; पर्युपासते—भलीभाँति पूजा करते हैं; ब्रह्म—परम सत्य का; अग्नौ—अग्नि में; अपरे—अन्य; यज्ञम्—यज्ञ को; यज्ञेन—यज्ञ से; एव—इस प्रकार; उपजुह्वति—अर्पित करते हैं।

कुछ योगी विभिन्न प्रकार के यज्ञों द्वारा देवताओं की भलीभाँति पूजा करते हैं और कुछ परब्रह्म रूपी अग्नि में आहुति डालते हैं।

तात्पर्य

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित होकर अपना कर्म करने में लीन रहता है वह पूर्ण योगी है, किन्तु ऐसे भी मनुष्य हैं जो देवताओं की पूजा करने के लिए यज्ञ करते हैं और कुछ परम ब्रह्म या परमेश्वर के निराकार स्वरूप के लिए यज्ञ करते हैं। इस तरह यज्ञ की अनेक कोटियाँ हैं। विभिन्न यज्ञकर्ताओं द्वारा सम्पन्न यज्ञ की ये कोटियाँ केवल बाह्य वर्गीकरण हैं। वस्तुतः यज्ञ का अर्थ है—भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना और विष्णु को यज्ञ भी कहते हैं। विभिन्न प्रकार के यज्ञों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। सांसारिक द्रव्यों के लिए यज्ञ (द्रव्ययज्ञ) तथा दिव्यज्ञान के लिए किये गये यज्ञ (ज्ञानयज्ञ)। जो कृष्णभावनाभावित हैं उनकी सारी भौतिक सम्पदा परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए होती है, किन्तु जो किसी क्षणिक भौतिक सुख की कामना करते हैं वे इन्द्र, सूर्य आदि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अपनी भौतिक सम्पदा की आहुति देते हैं। किन्तु अन्य लोग, जो निर्विशेषवादी हैं, वे निराकार ब्रह्म में अपने स्वरूप को स्वाहा कर देते हैं। देवतागण ऐसी शक्तिमान् जीवात्माएँ हैं जिन्हें ब्रह्माण्ड को ऊष्मा प्रदान करने, जल देने तथा प्रकाशित करने जैसे भौतिक कार्यों की देखरेख के लिए परमेश्वर ने नियुक्त किया है। जो लोग भौतिक लाभ चाहते हैं वे वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार विविध देवताओं की पूजा करते हैं। ऐसे लोग बह्वीश्वरवादी कहलाते हैं। किन्तु जो लोग परम

सत्य के निर्गुण स्वरूप की पूजा करते हैं और देवताओं के स्वरूपों को अनित्य मानते हैं, वे ब्रह्मकी अग्नि में अपने आप की ही आहुति दे देते हैं, और इस प्रकार ब्रह्म के अस्तित्व में अपने अस्तित्व को समाप्त कर देते हैं। ऐसे निर्विशेषवादी परमेश्वर की दिव्यप्रकृति को समझने के लिए दार्शनिक चिन्तन में अपना सारा समय लगाते हैं। दूसरे शब्दों में, सकामकर्मी भौतिकसुख के लिए अपनी भौतिक सम्पत्ति का यजन करते हैं, किन्तु निर्विशेषवादी परब्रह्म में लीन होने के लिए अपनी भौतिक उपाधियों का यजन करते हैं। निर्विशेषवादी के लिए यज्ञाग्नि ही परब्रह्म है, जिसमें आत्मस्वरूप का विलय ही आहुति है। किन्तु अर्जुन जैसा कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए सर्वस्व अर्पित कर देता है। इस तरह उसकी सारी भौतिक सम्पत्ति के साथ-साथ आत्मस्वरूप भी कृष्ण के लिए अर्पित हो जाता है। वह परम योगी है, किन्तु उसका पृथक् स्वरूप नष्ट नहीं होता।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

श्रोत्र-आदीनि—श्रोत्र आदि; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; अन्ये—अन्य; संयम—संयम की; अग्निषु—अग्नि में; जुह्वति—अर्पित करते हैं; शब्द-आदीन्—शब्द आदि.; विषयान्—इन्द्रियतृप्ति के विषयों को; अन्ये—दूसरे; इन्द्रिय—इन्द्रियों की; अग्निषु—अग्नि में; जुह्वति—यजन करते हैं।.

इनमें से कुछ (विशुद्ध ब्रह्मचारी) श्रवणादि क्रियाओं तथा इन्द्रियों को मन की नियन्त्रण रूपी अग्नि में स्वाहा कर देते हैं तो दूसरे लोग (नियमित गृहस्थ) इन्द्रियविषयों को इन्द्रियों की अग्नि में स्वाहा कर देते हैं।

तात्पर्य

मानव जीवन के चारों आश्रमों के सदस्य—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी—पूर्णयोगी बनने के निमित्त हैं। मानव जीवन पशुओं की भाँति इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं बना है, अतएव मानव जीवन के चारों

आश्रम इस प्रकार व्यवस्थित हैं कि मनुष्य आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता प्राप्त कर सके। ब्रह्मचारी या शिष्यगण प्रामाणिक गुरु की देखरेख में इन्द्रियतृप्ति से दूर रहकर मन को वश में करते हैं। वे कृष्णभावनामृत से सम्बन्धित शब्दों को ही सुनते हैं। श्रवण ज्ञान का मूलाधार है, अत: शुद्ध ब्रह्मचारी सदैव *हरेर्नामानुकीर्तनम्* अर्थात् भगवान् के यश के कीर्तन तथा श्रवण में ही लगा रहता है। वह सांसारिक शब्द-ध्वनियों से दूर रहता है और उसकी श्रवणेन्द्रिय *हरे कृष्ण हरे कृष्ण* की आध्यात्मिक ध्वनि को सुनने में ही लगी रहती है। इसी प्रकार से गृहस्थ भी, जिन्हें इन्द्रियतृप्ति की सीमित छूट है, बड़े ही संयम से इन कार्यों को पूरा करते हैं। यौन जीवन, मादकद्रव्य सेवन और मांसाहार मानव समाज की सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं, किन्तु संयमित गृहस्थ कभी भी यौन जीवन तथा अन्य इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में अनियन्त्रित रूप से प्रवृत्त नहीं होता। इसी उद्देश्य से प्रत्येक सभ्य मानव समाज में धर्म-विवाह का प्रचलन है। यह संयमित अनासक्त यौन जीवन भी एक प्रकार का यज्ञ है, क्योंकि संयमित गृहस्थ उच्चतर दिव्य जीवन के लिए अपनी इन्द्रियतृप्ति की प्रवृत्ति की आहुति कर देता है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७॥

शब्दार्थ

सर्वाणि—सारी; **इन्द्रिय**—इन्द्रियों के; **कर्माणि**—कर्म; **प्राण-कर्माणि**—प्राणवायु के कार्यों को; **च**—भी; **अपरे**—अन्य; **आत्म-संयम**—मनोनिग्रह को; **योग**—संयोजन विधि; **अग्नौ**—अग्नि में; **जुह्वति**—अर्पित करते हैं; **ज्ञान-दीपिते**—आत्म-साक्षात्कार की लालसा के कारण।

दूसरे, जो मन तथा इन्द्रियों को वश में करके आत्म-साक्षात्कार करना चाहते हैं, सम्पूर्ण इन्द्रियों तथा प्राणवायु के कार्यों को संयमित मन रूपी अग्नि में आहुति कर देते हैं।

तात्पर्य

यहाँ पर पतञ्जलि द्वारा सूत्रबद्ध योगपद्धति का निर्देश है। पतंजलि कृत योगसूत्र में आत्मा को *प्रत्यगात्मा* तथा *परागात्मा* कहा गया है। जब तक जीवात्मा इन्द्रियभोग में आसक्त रहता है तब तक वह *परागात्मा* कहलाता है

और ज्योंही वह इन्द्रियभोग से विरत हो जाता है तो *प्रत्यगात्मा* कहलाने लगता है। जीवात्मा के शरीर में दस प्रकार के वायु कार्यशील रहते हैं और इसे श्वासप्रक्रिया (प्राणायाम) द्वारा जाना जाता है। पतंजलि की योगपद्धति बताती है कि किस तरह शरीर के वायु के कार्यों को तकनीकी उपाय से नियन्त्रित किया जाए जिससे अन्तत: वायु के सभी आन्तरिक कार्य आत्मा को भौतिक आसक्ति से शुद्ध करने में सहायक बन जाएँ। इस योगपद्धति के अनुसार *प्रत्यगात्मा* ही चरम उद्देश्य है। यह *प्रत्यगात्मा* पदार्थ की क्रियाओं से प्राप्त की जाती है। इन्द्रियाँ इन्द्रियविषयों से प्रतिक्रिया करती हैं, यथा कान सुनने के लिए, आँख देखने के लिए, नाक सूँघने के लिए, जीभ स्वाद के लिए तथा हाथ स्पर्श के लिए हैं, और ये सब इन्द्रियाँ मिलकर आत्मा से बाहर के कार्यों में लगी रहती हैं। ये ही कार्य प्राणवायु के व्यापार (क्रियाएँ) हैं। अपान वायु नीचे की ओर जाती है, व्यान वायु से संकोच तथा प्रसार होता है, समान वायु से संतुलन बना रहता है और उदान वायु ऊपर की ओर जाती है और जब मनुष्य प्रबुद्ध हो जाता है तो वह इन सभी वायुओं को आत्म-साक्षात्कार की खोज में लगाता है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतय: संशितव्रता: ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

द्रव्य-यज्ञा:—अपनी सम्पत्ति का यज्ञ; तप:-यज्ञा:—तपों का यज्ञ; योग-यज्ञा:—अष्टांग योग में यज्ञ; तथा—इस प्रकार; अपरे—अन्य; स्वाध्याय—वेदाध्ययन रूपी यज्ञ; ज्ञान-यज्ञा:—दिव्य ज्ञान की प्रगति हेतु यज्ञ; च—भी; यतय:—प्रबुद्ध पुरुष; संशित-व्रता:—दृढ व्रतधारी।

कठोर व्रत अंगीकार करके कुछ लोग अपनी सम्पत्ति का त्याग करके, कुछ कठिन तपस्या द्वारा, कुछ अष्टांग योगपद्धति के अभ्यास द्वारा अथवा दिव्यज्ञान में उन्नति करने के लिए वेदों के अध्ययन द्वारा प्रबुद्ध बनते हैं।

तात्पर्य

इन यज्ञों के कई वर्ग किये जा सकते हैं। बहुत से लोग विविध प्रकार के दान-पुण्य द्वारा अपनी सम्पत्ति का यजन करते हैं। भारत में धनाढ्य व्यापारी या राजवंशी अनेक प्रकार की धर्मार्थ संस्थाएँ खोल देते हैं—यथा धर्मशाला, अन्न क्षेत्र, अतिथिशाला, अनाथालय तथा विद्यापीठ। अन्य देशों में भी अनेक अस्पताल, बूढ़ों के लिए आश्रम तथा गरीबों को भोजन, शिक्षा तथा चिकित्सा की सुविधाएँ प्रदान करने के दातव्य संस्थान हैं। ये सब दानकर्म *द्रव्यमय यज्ञ* हैं। अन्य लोग जीवन में उन्नति करने अथवा उच्चलोकों में जाने के लिए चान्द्रायण तथा चातुर्मास्य जैसे विविध तप करते हैं। इन विधियों के अन्तर्गत कतिपय कठोर नियमों के अधीन कठिन व्रत करने होते हैं। उदाहरणार्थ, चातुर्मास्य व्रत रखने वाला वर्ष के चार मासों में (जुलाई से अक्टूबर तक) बाल नहीं कटाता, न ही कतिपय खाद्य वस्तुएँ खाता है और न दिन में दो बार खाता है, न निवास-स्थान छोड़कर कहीं जाता है। जीवन के सुखों का ऐसा परित्याग *तपोमय यज्ञ* कहलाता है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो अनेक योगपद्धतियों का अनुसरण करते हैं यथा पतंजलि पद्धति (ब्रह्म में तदाकार होने के लिए) अथवा हठयोग या अष्टांगयोग (विशेष सिद्धियों के लिए)। कुछ लोग समस्त तीर्थस्थानों की यात्रा करते हैं। ये सारे अनुष्ठान योग-यज्ञ कहलाते हैं, जो भौतिक जगत् में किसी सिद्धि विशेष के लिए किये जाते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो विभिन्न वैदिक साहित्य यथा उपनिषद् तथा वेदान्तसूत्र या सांख्यदर्शन के अध्ययन में अपना ध्यान लगाते हैं। इसे *स्वाध्याय यज्ञ* कहा जाता है। ये सारे योगी विभिन्न प्रकार के यज्ञों में लगे रहते हैं और उच्चजीवन की तलाश में रहते हैं। किन्तु कृष्णभावनामृत इनसे पृथक् है क्योंकि यह परमेश्वर की प्रत्यक्ष सेवा है। इसे उपर्युक्त किसी भी यज्ञ से प्राप्त नहीं किया जा सकता, अपितु भगवान् तथा उनके प्रामाणिक भक्तों की कृपा से ही प्राप्त किया जा सकता है। फलत: कृष्णभावनामृत दिव्य है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अपाने—निम्नगामी वायु में; जुह्वति—अर्पित करते हैं; प्राणम्—प्राण को; प्राणे—प्राण में; अपानम्—निम्नगामी वायु को; तथा—ऐसे ही; अपरे—अन्य; प्राण—प्राण का; अपान—निम्नगामी वायु; गती—गति को; रुद्ध्वा—रोककर; प्राण-आयाम—श्वास रोक कर समाधि में; परायणाः—प्रवृत्त; अपरे—अन्य; नियत—संयमित, अल्प; आहाराः—खाकर; प्राणान्—प्राणों को; प्राणेषु—प्राणों में; जुह्वति—हवन करते हैं, अर्पित करते हैं।

अन्य लोग भी हैं जो समाधि में रहने के लिए श्वास को रोके रहते हैं (प्राणायाम)। वे अपान में प्राण को और प्राण में अपान को रोकने का अभ्यास करते हैं और अन्त में प्राण-अपान को रोककर समाधि में रहते हैं। अन्य योगी कम भोजन करके प्राण की प्राण में ही आहुति देते हैं।

तात्पर्य

श्वास को रोकने की योगविधि प्राणायाम कहलाती है। प्रारम्भ में हठयोग के विविध आसनों की सहायता से इसका अभ्यास किया जाता है। ये सारी विधियाँ इन्द्रियों को वश में करने तथा आत्म-साक्षात्कार की प्रगति के लिए संस्तुत की जाती हैं। इस विधि में शरीर के भीतर वायु को रोका जाता है जिससे वायु की गति की दिशा उलट सके। अपान वायु निम्नगामी (अधोमुखी) है और प्राणवायु ऊर्ध्वगामी है। प्राणायाम में योगी विपरीत दिशा में श्वास लेने का तब तक अभ्यास करता है जब तक दोनों वायु उदासीन होकर पूरक अर्थात् सम नहीं हो जातीं। जब अपान वायु को प्राणवायु में अर्पित कर दिया जाता है तो इसे रेचक कहते हैं। जब प्राण तथा अपान वायुओं को पूर्णतया रोक दिया जाता है तो इसे कुम्भक योग कहते हैं। कुम्भक योगाभ्यास द्वारा मनुष्य आत्म-सिद्धि के लिए जीवन अवधि बढ़ा सकता है। बुद्धिमान योगी एक ही जीवनकाल में सिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक रहता है, वह दूसरे जीवन की प्रतीक्षा नहीं करता। कुम्भक योग के अभ्यास से योगी जीवन अवधि को अनेक वर्षों के लिए बढ़ा सकता है। किन्तु भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में स्थित रहने के कारण कृष्णभावनाभावित मनुष्य स्वतः इन्द्रियों का नियंता (जितेन्द्रिय) बन जाता है। उसकी इन्द्रियाँ कृष्ण की सेवा में तत्पर रहने के कारण अन्य किसी

कार्य में प्रवृत्त होने का अवसर ही नहीं पातीं। फलत: जीवन के अन्त में उसे स्वत: भगवान् कृष्ण के दिव्य पद पर स्थानान्तरित कर दिया जाता है, अत: वह दीर्घजीवी बनने का प्रयत्न नहीं करता। वह तुरन्त मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में (१४.२६) कहा गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो व्यक्ति भगवान् की निश्छल भक्ति में प्रवृत्त होता है वह प्रकृति के गुणों को लाँघ जाता है और तुरन्त आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है।'' कृष्णभावनाभावित व्यक्ति दिव्य अवस्था से प्रारम्भ करता है और निरन्तर उसी चेतना में रहता है। अत: उसका पतन नहीं होता और अन्तत: वह भगवद्धाम को जाता है। कृष्ण प्रसादम् को ही खाते रहने से स्वत: कम खाने की आदत पड़ जाती है। इन्द्रियनिग्रह के मामले में कम भोजन करना (अल्पाहार) अत्यन्त लाभप्रद होता है और इन्द्रियनिग्रह के बिना भव-बन्धन से निकल पाना सम्भव नहीं है।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; **अपि**—ऊपर से भिन्न होकर भी; **एते**—ये; **यज्ञ-विदः**—यज्ञ करने के प्रयोजन से परिचित; **यज्ञ-क्षपित**—यज्ञ करने के कारण शुद्ध हुआ; **कल्मषाः**—पापकर्मों से; **यज्ञ-शिष्ट**—ऐसे यज्ञ करने के फल का; **अमृत-भुजः**—ऐसा अमृत चखने वाले; **यान्ति**—जाते हैं; **ब्रह्म**—परम ब्रह्म; **सनातनम्**—नित्य आकाश को।.

ये सभी यज्ञ करने वाले यज्ञों का अर्थ जानने के कारण पापकर्मों से मुक्त हो जाते हैं और यज्ञों के फल रूपी अमृत को चखकर परम दिव्य आकाश की ओर बढ़ते जाते हैं।

तात्पर्य

विभिन्न प्रकार के यज्ञों (यथा द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ तथा योगयज्ञ) की उपर्युक्त व्याख्या से यह देखा जाता है कि इन सबका एक ही उद्देश्य है और वह है इन्द्रियों का निग्रह। इन्द्रियतृप्ति ही भौतिक अस्तित्व का मूल कारण है, अत: जब तक इन्द्रियतृप्ति से भिन्न धरातल पर स्थित न हुआ जाय तब

तक सच्चिदानन्द के नित्य धरातल तक उठ पाना सम्भव नहीं है। यह धरातल नित्य आकाश या ब्रह्म आकाश में है। उपर्युक्त सारे यज्ञों से संसार के पापकर्मों से विमल हुआ जा सकता है। जीवन में इस प्रगति से मनुष्य न केवल सुखी और ऐश्वर्यवान बनता है, अपितु अन्त में वह निराकार ब्रह्म के साथ तादात्म्य के द्वारा या श्रीभगवान् कृष्ण की संगति प्राप्त करके भगवान् के शाश्वत धाम को प्राप्त करता है।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; **अयम्**—यह; **लोकः**—लोक; **अस्ति**—है; **अयज्ञस्य**—यज्ञ न करने वाले का; **कुतः**—कहाँ है; **अन्यः**—अन्य; **कुरु-सत्-तम**—हे कुरुश्रेष्ठ।

हे कुरुश्रेष्ठ! जब यज्ञ के बिना मनुष्य इस लोक में या इस जीवन में ही सुखपूर्वक नहीं रह सकता, तो फिर अगले जन्म में कैसे रह सकेगा?

तात्पर्य

मनुष्य इस लोक में चाहे जिस रूप में रहे वह अपने स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। दूसरे शब्दों में, भौतिक जगत् में हमारा अस्तित्व हमारे पापपूर्ण जीवन के बहुगुणित फलों के कारण है। अज्ञान ही पापपूर्ण जीवन का कारण है और पापपूर्ण जीवन ही इस भौतिक जगत् में अस्तित्व का कारण है। मनुष्य जीवन ही वह द्वार है जिससे होकर इस बन्धन से बाहर निकला जा सकता है। अतः वेद हमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का मार्ग दिखलाकर बाहर निकलने का अवसर प्रदान करते हैं। धर्म या ऊपर संस्तुत अनेक प्रकार के यज्ञ हमारी आर्थिक समस्याओं को स्वतः हल कर देते हैं। जनसंख्या में वृद्धि होने पर भी यज्ञ सम्पन्न करने से हमें प्रचुर भोजन, प्रचुर दूध इत्यादि मिलता रहता है। जब शरीर की आवश्यकता पूर्ण होती रहती है, तो इन्द्रियों को तुष्ट करने की बारी आती है। अतः वेदों में नियमित इन्द्रियतृप्ति के लिए पवित्र विवाह का विधान है। इस प्रकार मनुष्य भौतिक बन्धन से क्रमशः छूटकर उच्चपद की ओर अग्रसर होता है और मुक्त जीवन की पूर्णता परमेश्वर का सान्निध्य प्राप्त करने में है। यह पूर्णता यज्ञ

सम्पन्न करके प्राप्त की जाती है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। फिर भी यदि कोई व्यक्ति वेदों के अनुसार यज्ञ करने के लिए तत्पर नहीं होता, तो वह इस शरीर में सुखी जीवन की कैसे आशा कर सकता है? फिर दूसरे लोक में दूसरे शरीर से सुखी जीवन की आशा तो व्यर्थ ही है। विभिन्न स्वर्गों में भिन्न-भिन्न प्रकार की जीवन-सुविधाएँ हैं और जो लोग यज्ञ करने में लगे हैं उनके लिए तो सर्वत्र परम सुख मिलता है। किन्तु सर्वश्रेष्ठ सुख वह है जिसे मनुष्य कृष्णभावनामृत के अभ्यास द्वारा वैकुण्ठ जाकर प्राप्त करता है। अत: कृष्णभावनाभावित जीवन ही इस भौतिक जगत् की समस्त समस्याओं का एकमात्र हल है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; बहु-विधा:—विविध प्रकार के; यज्ञा:—यज्ञ; वितता:—फैले हुए हैं; ब्रह्मण:—वेदों के; मुखे—मुख में; कर्म-जान्—कर्म से उत्पन्न; विद्धि—जानो; तान्—उन; सर्वान्—सबको; एवम्—इस तरह; ज्ञात्वा—जानकर; विमोक्ष्यसे—मुक्त हो जाओगे।

ये विभिन्न प्रकार के यज्ञ वेदसम्मत हैं और ये सभी विभिन्न प्रकार के कर्मों से उत्पन्न हैं। इन्हें इस रूप में जानने पर तुम मुक्त हो जाओगे।

तात्पर्य

जैसा कि पहले बताया जा चुका है वेदों में कर्ताभेद के अनुसार विभिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है। चूँकि लोग देहात्मबुद्धि में लीन हैं, अत: इन यज्ञों की व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि मनुष्य उन्हें अपने शरीर, मन अथवा बुद्धि के अनुसार सम्पन्न कर सके। किन्तु देह से मुक्त होने के लिए ही इन सबका विधान है। इसी की पुष्टि यहाँ पर भगवान् ने अपने श्रीमुख से की है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्रेयान्—श्रेष्ठ; **द्रव्य-मयात्**—सम्पत्ति के; **यज्ञात्**—यज्ञ से; **ज्ञान-यज्ञः**—ज्ञानयज्ञ; **परन्तप**—हे शत्रुओं को दण्डित करने वाले; **सर्वम्**—सभी; **कर्म**—कर्म; **अखिलम्**—पूर्णतः; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **ज्ञाने**—ज्ञान में; **परिसमाप्यते**—समाप्त होते हैं।

हे परंतप! द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। हे पार्थ! अन्ततोगत्वा सारे कर्मयज्ञों का अवसान दिव्य ज्ञान में होता है।

तात्पर्य

समस्त यज्ञों का यही एक प्रयोजन है कि जीव को पूर्णज्ञान प्राप्त हो जिससे वह भौतिक कष्टों से छुटकारा पाकर अन्त में परमेश्वर की दिव्य सेवा कर सके। तो भी इन सारे यज्ञों की विविध क्रियाओं में रहस्य भरा है और मनुष्य को यह रहस्य जान लेना चाहिए। कभी-कभी कर्ता की श्रद्धा के अनुसार यज्ञ विभिन्न रूप धारण कर लेते हैं। जब यज्ञकर्ता की श्रद्धा दिव्यज्ञान के स्तर तक पहुँच जाती है तो उसे ज्ञानरहित द्रव्ययज्ञ करने वाले से श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि ज्ञान के बिना यज्ञ भौतिक स्तर पर रह जाते हैं और इनसे कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं हो पाता। यथार्थ ज्ञान का अंत कृष्णभावनामृत में होता है जो दिव्यज्ञान की सर्वोच्च अवस्था है। ज्ञान की उन्नति के बिना यज्ञ मात्र भौतिक कर्म बना रहता है। किन्तु जब उसे दिव्यज्ञान के स्तर तक पहुँचा दिया जाता है तो ऐसे सारे कर्म आध्यात्मिक स्तर प्राप्त कर लेते हैं। चेतनाभेद के अनुसार ऐसे यज्ञकर्म कभी-कभी कर्मकाण्ड कहलाते हैं और कभी ज्ञानकाण्ड। यज्ञ वही श्रेष्ठ है, जिसका अन्त ज्ञान में हो।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

तत्—विभिन्न यज्ञों के उस ज्ञान को; **विद्धि**—जानने का प्रयास करो; **प्रणिपातेन**—गुरु के पास जाकर के; **परिप्रश्नेन**—विनीत जिज्ञासा से; **सेवया**—सेवा के द्वारा;

उपदेक्ष्यन्ति—दीक्षित करेंगे; ते—तुमको; ज्ञानम्—ज्ञान में; ज्ञानिनः—स्वरूपसिद्ध; तत्त्व—तत्त्व के; दर्शिनः—दर्शी।

तुम गुरु के पास जाकर सत्य को जानने का प्रयास करो। उनसे विनीत होकर जिज्ञासा करो और उनकी सेवा करो। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति तुम्हें ज्ञान प्रदान कर सकते हैं, क्योंकि उन्होंने सत्य का दर्शन किया है।

तात्पर्य

निस्सन्देह आत्म-साक्षात्कार का मार्ग कठिन है अतः भगवान् का उपदेश है कि उन्हीं से प्रारम्भ होने वाली परम्परा से प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण की जाए। इस परम्परा के सिद्धान्त का पालन किये बिना कोई प्रामाणिक गुरु नहीं बन सकता। भगवान् आदि गुरु हैं, अतः गुरु-परम्परा का ही व्यक्ति अपने शिष्य को भगवान् का सन्देश प्रदान कर सकता है। कोई अपनी निजी विधि का निर्माण करके स्वरूपसिद्ध नहीं बन सकता जैसा कि आजकल के मूर्ख पाखंडी करने लगे हैं। *भागवत* का (६.३.१९) कथन है—*धर्मं तु साक्षात्भगवत्प्रणीतम्*—धर्मपथ का निर्माण स्वयं भगवान् ने किया है। अतएव मनोधर्म या शुष्क तर्क से सही पद प्राप्त नहीं हो सकता। न ही ज्ञानग्रंथों के स्वतन्त्र अध्ययन से ही कोई आध्यात्मिक जीवन में उन्नति कर सकता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए उसे प्रामाणिक गुरु की शरण में जाना ही होगा। ऐसे गुरु को पूर्ण समर्पण करके ही स्वीकार करना चाहिए और अहंकाररहित होकर दास की भाँति गुरु की सेवा करनी चाहिए। स्वरूपसिद्ध गुरु की प्रसन्नता ही आध्यात्मिक जीवन की प्रगति का रहस्य है। जिज्ञासा और विनीत भाव के मेल से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त होता है। बिना विनीत भाव तथा सेवा के विद्वान् गुरु से की गई जिज्ञासाएँ प्रभावपूर्ण नहीं होंगी। शिष्य को गुरु-परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहिए और जब गुरु शिष्य में वास्तविक इच्छा देखता है तो स्वतः ही शिष्य को आध्यात्मिक ज्ञान का आशीर्वाद देता है। इस श्लोक में अन्धानुगमन तथा निरर्थक जिज्ञासा—इन दोनों की भर्त्सना की गई है। शिष्य न केवल गुरु से विनीत होकर सुने, अपितु विनीत भाव तथा सेवा और जिज्ञासा द्वारा गुरु से स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करे। प्रामाणिक गुरु स्वभाव से शिष्य के प्रति दयालु होता है,

अत: यदि शिष्य विनीत हो और सेवा में तत्पर रहे तो ज्ञान और जिज्ञासा का विनिमय पूर्ण हो जाता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसे; ज्ञात्वा—जानकर; न—कभी नहीं; पुनः—फिर; मोहम्—मोह को; एवम्—इस प्रकार; यास्यसि—प्राप्त होगे; पाण्डव—हे पाण्डवपुत्र; येन—जिससे; भूतानि—जीवों को; अशेषाणि—समस्त; द्रक्ष्यसि—देखोगे; आत्मनि—परमात्मा में; अथ उ—अथवा अन्य शब्दों में; मयि—मुझमें।

स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर चुकने पर तुम पुनः कभी ऐसे मोह को प्राप्त नहीं होगे क्योंकि इस ज्ञान के द्वारा तुम देख सकोगे कि सभी जीव परमात्मा के अंशस्वरूप हैं, अर्थात् वे सब मेरे हैं।

तात्पर्य

स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से ज्ञान प्राप्त होने का परिणाम यह होता है कि यह पता चल जाता है कि सारे जीव भगवान् श्रीकृष्ण के भिन्न अंश हैं। कृष्ण से पृथक् अस्तित्व का भाव *माया* (मा—नहीं, या—यह) कहलाती है। कुछ लोग सोचते हैं कि हमें कृष्ण से क्या लेना देना है वे तो केवल महान ऐतिहासिक पुरुष हैं और परब्रह्म तो निराकार है। वस्तुत: जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है यह निराकार ब्रह्म कृष्ण का व्यक्तिगत तेज है। कृष्ण भगवान् के रूप में प्रत्येक वस्तु के कारण हैं। *ब्रह्मसंहिता* में स्पष्ट कहा गया है कि कृष्ण श्रीभगवान् हैं और सभी कारणों के कारण हैं। यहाँ तक कि लाखों अवतार उनके विभिन्न विस्तार ही हैं। इसी प्रकार सारे जीव भी कृष्ण के अंश हैं। मायावादियों की यह मिथ्या धारणा है कि कृष्ण अपने अनेक अंशों में अपने निजी पृथक् अस्तित्व को मिटा देते हैं। यह विचार सर्वथा भौतिक है। भौतिक जगत् में हमारा अनुभव है कि यदि किसी वस्तु का विखण्डन किया जाय तो उसका मूलस्वरूप नष्ट हो जाता है। किन्तु मायावादी यह नहीं समझ पाते कि परम का अर्थ है कि एक

और एक मिलकर एक ही होता है और एक में से एक घटाने पर भी एक बचता है। परब्रह्म का यही स्वरूप है।

ब्रह्मविद्या का पर्याप्त ज्ञान न होने के कारण हम माया से आवृत हैं इसीलिए हम अपने को कृष्ण से पृथक् सोचते हैं। यद्यपि हम कृष्ण के भिन्न अंश हैं, किन्तु तो भी हम उनसे भिन्न नहीं हैं। जीवों का शारीरिक अन्तर माया है अथवा वास्तविक सत्य नहीं है। हम सभी कृष्ण को प्रसन्न करने के निमित्त हैं। केवल माया के कारण ही अर्जुन ने सोचा कि उसके स्वजनों से उसका क्षणिक शारीरिक सम्बन्ध कृष्ण के शाश्वत आध्यात्मिक सम्बन्धों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। *गीता* का सम्पूर्ण उपदेश इसी ओर लक्षित है कि कृष्ण का नित्य दास होने के कारण जीव उनसे पृथक् नहीं हो सकता, कृष्ण से अपने को विलग मानना ही माया कहलाती है। परब्रह्म के भिन्न अंश के रूप में जीवों को एक विशिष्ट उद्देश्य पूरा करना होता है। उस उद्देश्य को भुलाने के कारण ही वे अनादिकाल से मानव, पशु, देवता आदि देहों में स्थित हैं। ऐसे शारीरिक अन्तर भगवान् की दिव्य सेवा के विस्मरण से जनित हैं। किन्तु जब कोई कृष्णभावनामृत के माध्यम से दिव्य सेवा में लग जाता है तो वह इस माया से तुरन्त मुक्त हो जाता है। ऐसा ज्ञान केवल प्रामाणिक गुरु से ही प्राप्त हो सकता है और इस तरह वह इस भ्रम को दूर कर सकता है कि जीव कृष्ण के तुल्य है। पूर्णज्ञान तो यह है कि परमात्मा कृष्ण समस्त जीवों के परम आश्रय हैं और इस आश्रय को त्याग देने पर जीव माया द्वारा मोहित होते हैं, क्योंकि वे अपना अस्तित्व पृथक् समझते हैं। इस तरह विभिन्न भौतिक पहचानों के मानदण्डों के अन्तर्गत वे कृष्ण को भूल जाते हैं। किन्तु जब ऐसे मोहग्रस्त जीव कृष्णभावनामृत में स्थित होते हैं तो यह समझा जाता है कि वे मुक्ति-पथ पर हैं जिसकी पुष्टि *भागवत* में (२.१०.६) की गई है—*मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।* मुक्ति का अर्थ है—कृष्ण के नित्य दास रूप में (कृष्णभावनामृत में) अपनी स्वाभाविक स्थिति पर होना।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

अपि—भी; चेत्—यदि; असि—तुम हो; पापेभ्यः—पापियों से; सर्वेभ्यः—समस्त; पाप-कृत्-तमः—सर्वाधिक पापी; सर्वम्—ऐसे समस्त पापकर्म; ज्ञान-प्लवेन—दिव्यज्ञान की नाव द्वारा; एव—निश्चय ही; वृजिनम्—दुखों के सागर को; सन्तरिष्यसि—पूर्णतया पार कर जाओगे।.

यदि तुम्हें समस्त पापियों में भी सर्वाधिक पापी समझा जाये तो भी तुम दिव्यज्ञान रूपी नाव में स्थित होकर दुख-सागर को पार करने में समर्थ होगे।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में अपनी स्वाभाविक स्थिति का सही-सही ज्ञान इतना उत्तम होता है कि अज्ञान-सागर में चलने वाले जीवन-संघर्ष से मनुष्य तुरन्त ही ऊपर उठ सकता है। यह भौतिक जगत् कभी-कभी अज्ञान सागर मान लिया जाता है तो कभी जलता हुआ जंगल। सागर में कोई कितना ही कुशल तैराक क्यों न हो, जीवन-संघर्ष अत्यन्त कठिन है। यदि कोई संघर्षरत तैरने वाले को आगे बढ़कर समुद्र से निकाल लेता है तो वह सबसे बड़ा रक्षक है। भगवान् से प्राप्त पूर्णज्ञान मुक्ति का पथ है। कृष्णभावनामृत की नाव अत्यन्त सुगम है, किन्तु उसी के साथ-साथ अत्यन्त उदात्त भी।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार से; एधांसि—ईंधन को; समिद्धः—जलती हुई; अग्निः—अग्नि; भस्म-सात्—राख; कुरुते—कर देती है; अर्जुन—हे अर्जुन; ज्ञान-अग्निः—ज्ञान रूपी अग्नि; सर्व-कर्माणि—भौतिक कर्मों के समस्त फल को; भस्म-सात्—भस्म, राख; कुरुते—करती है; तथा—उसी प्रकार से।.

जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी तरह हे अर्जुन! ज्ञान रूपी अग्नि भौतिक कर्मों के समस्त फलों को जला डालती है।

तात्पर्य

आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी पूर्णज्ञान तथा उनके सम्बन्ध की तुलना यहाँ अग्नि से की गई है। यह अग्नि न केवल समस्त पापकर्मों के फलों को जला देती है, अपितु पुण्यकर्मों के फलों को भी भस्मसात् करने वाली है। कर्मफल की कई अवस्थाएँ हैं—शुभारम्भ, बीज, संचित आदि। किन्तु जीव को स्वरूप का ज्ञान होने पर सब कुछ भस्म हो जाता है चाहे वह पूर्ववर्ती हो या परवर्ती। वेदों में (*बृहदारण्यक उपनिषद्* ४.४.२२) कहा गया है—*उभे उहैवैष एते तरत्यमृतः साध्वसाधूनी*—"मनुष्य पाप तथा पुण्य दोनों ही प्रकार के कर्मफलों को जीत लेता है।"

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

न—कुछ भी नहीं; हि—निश्चय ही; ज्ञानेन—ज्ञान से; सदृशम्—तुलना में; पवित्रम्—पवित्र; इह—इस संसार में; विद्यते—है; तत्—उस; स्वयम्—अपने आप; योग—भक्ति में; संसिद्धः—परिपक्वहोने पर; कालेन—यथासमय; आत्मनि—अपने आप में, अन्तर में; विन्दति—आस्वादन करता है।

इस संसार में दिव्यज्ञान के समान कुछ भी उदात्त तथा शुद्ध नहीं है। ऐसा ज्ञान समस्त योग का परिपक्व फल है। जो व्यक्ति भक्ति में सिद्ध हो जाता है, वह यथासमय अपने अन्तर में इस ज्ञान का आस्वादन करता है।

तात्पर्य

जब हम दिव्यज्ञान की बात करते हैं तो हमारा प्रयोजन आध्यात्मिक ज्ञान से होता है। निस्सन्देह दिव्यज्ञान के समान कुछ भी उदात्त तथा शुद्ध नहीं है। अज्ञान ही हमारे बन्धन का कारण है और ज्ञान हमारी मुक्ति का। यह ज्ञान भक्ति का परिपक्व फल है। जब कोई दिव्यज्ञान की अवस्था प्राप्त कर लेता है तो उसे अन्यत्र शान्ति खोजने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वह मन ही मन शान्ति का आनन्द लेता रहता है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान तथा शान्ति का पर्यवसान कृष्णभावनामृत में होता है। *भगवद्गीता* के सन्देश की यही चरम परिणति है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

श्रद्धा-वान्—श्रद्धालु व्यक्ति; लभते—प्राप्त करता है; ज्ञानम्—ज्ञान; तत्-परः—उसमें अत्यधिक अनुरक्त; संयत—संयमित; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; ज्ञानम्—ज्ञान; लब्ध्वा—प्राप्त करके; पराम्—दिव्य; शान्तिम्—शान्ति; अचिरेण—शीघ्र ही; अधिगच्छति—प्राप्त करता है।

जो श्रद्धालु दिव्यज्ञान में समर्पित है और जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, वह इस ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी है और इसे प्राप्त करते ही वह तुरन्त आध्यात्मिक शान्ति को प्राप्त होता है।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण में दृढ़विश्वास रखने वाला व्यक्ति ही इस तरह का कृष्णभावनाभावित ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वही पुरुष श्रद्धावान कहलाता है जो यह सोचता है कि कृष्णभावनाभावित होकर कर्म करने से वह परमसिद्धि प्राप्त कर सकता है। यह श्रद्धा भक्ति के द्वारा तथा *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—मन्त्र के जाप द्वारा प्राप्त की जाती है क्योंकि इससे हृदय की सारी भौतिक मलिनता दूर हो जाती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य को चाहिए कि अपनी इन्द्रियों पर संयम रखे। जो व्यक्ति कृष्ण के प्रति श्रद्धावान् है और जो इन्द्रियों को संयमित रखता है, वह शीघ्र ही कृष्णभावनामृत के ज्ञान में पूर्णता प्राप्त करता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

अज्ञः—मूर्ख, जिसे शास्त्रों का ज्ञान नहीं है; च—तथा; अश्रद्दधानः—शास्त्रों में श्रद्धा से विहीन; च—भी; संशय—शंकाग्रस्त; आत्मा—व्यक्ति; विनश्यति—गिर जाता है;

न—न; अयम्—इस; लोक:—जगत में; अस्ति—है; न—न तो; पर:—अगले जीवन में; न—नहीं; सुखम्—सुख; संशय—संशयग्रस्त; आत्मन:—व्यक्ति के लिए।

किन्तु जो अज्ञानी तथा श्रद्धाविहीन व्यक्ति शास्त्रों में संदेह करते हैं, वे भगवद्भावनामृत नहीं प्राप्त करते, अपितु नीचे गिर जाते हैं। संशयात्मा के लिए न तो इस लोक में, न ही परलोक में कोई सुख है।

तात्पर्य

भगवद्गीता सभी प्रामाणिक एवं मान्य शास्त्रों में सर्वोत्तम है। जो लोग पशुतुल्य हैं उनमें न तो प्रामाणिक शास्त्रों के प्रति कोई श्रद्धा है और न उनका ज्ञान होता है और कुछ लोगों को यद्यपि उनका ज्ञान होता है और उनमें से वे उद्धरण देते रहते हैं, किन्तु उनमें वास्तविक विश्वास नहीं करते। यहाँ तक कि कुछ लोग जिनमें *भगवद्गीता* जैसे शास्त्रों में श्रद्धा होती भी है फिर भी वे न तो भगवान् कृष्ण में विश्वास करते हैं, न उनकी पूजा करते हैं। ऐसे लोगों को कृष्णभावनामृत का कोई ज्ञान नहीं होता। वे नीचे गिरते हैं। उपर्युक्त सभी कोटि के व्यक्तियों में जो श्रद्धालु नहीं हैं और सदैव संशयग्रस्त रहते हैं, वे तनिक भी उन्नति नहीं कर पाते। जो लोग ईश्वर तथा उनके वचनों में श्रद्धा नहीं रखते उन्हें न तो इस संसार में और न भावी लोक में कुछ हाथ लगता है। उनके लिए किसी भी प्रकार का सुख नहीं है। अत: मनुष्य को चाहिए कि श्रद्धाभाव से शास्त्रों के सिद्धान्तों का पालन करे और ज्ञान प्राप्त करे। इसी ज्ञान से मनुष्य आध्यात्मिक अनुभूति के दिव्य पद तक पहुँच सकता है। दूसरे शब्दों में, आध्यात्मिक उत्थान में संशयग्रस्त मनुष्यों को कोई स्थान नहीं मिलता। अत: मनुष्य को चाहिए कि परम्परा से चले आ रहे महान आचार्यों के पदचिह्नों का अनुसरण करे और सफलता प्राप्त करे।

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

योग—कर्मयोग में भक्ति से; सन्न्यस्त—जिसने त्याग दिये हैं; कर्माणम्—कर्मफलों को; ज्ञान—ज्ञान से; सञ्छिन्न—काट दिये हैं; संशयम्—सन्देह को; आत्म-वन्तम्—आत्मपरायण को; न—कभी नहीं; कर्माणि—कर्म; निबध्नन्ति—बाँधते हैं; धनञ्जय—हे सम्पत्ति के विजेता।

जो व्यक्ति अपने कर्मफलों का परित्याग करते हुए भक्ति करता है और जिसके संशय दिव्यज्ञान द्वारा विनष्ट हो चुके होते हैं वही वास्तव में आत्मपरायण है। हे धनञ्जय! वह कर्मों के बन्धन से नहीं बँधता।

तात्पर्य

जो मनुष्य *भगवद्गीता* की शिक्षा का उसी रूप में पालन करता है जिस रूप में भगवान् श्रीकृष्ण ने दी थी, तो वह दिव्यज्ञान की कृपा से समस्त संशयों से मुक्त हो जाता है। पूर्णतः कृष्णभावनाभावित होने के कारण उसे श्रीभगवान् के अंश रूप में अपने स्वरूप का ज्ञान पहले ही हो जाता है। अतएव निस्सन्देह वह कर्मबन्धन से मुक्त है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; अज्ञान-सम्भूतम्—अज्ञान से उत्पन्न; हृत्-स्थम्—हृदय में स्थित; ज्ञान—ज्ञान रूपी; असिना—शस्त्र से; आत्मनः—स्व के; छित्त्वा—काट कर; एनम्—इस; संशयम्—संशय को; योगम्—योग में; आतिष्ठ—स्थित होओ; उत्तिष्ठ—युद्ध करने के लिए उठो; भारत—हे भरतवंशी।

अतएव तुम्हारे हृदय में अज्ञान के कारण जो संशय उठे हैं उन्हें ज्ञानरूपी शस्त्र से काट डालो। हे भारत! तुम योग से समन्वित होकर खड़े होओ और युद्ध करो।

तात्पर्य

इस अध्याय में जिस योगपद्धति का उपदेश हुआ है वह सनातन योग कहलाती है। इस योग में दो तरह के यज्ञकर्म किये जाते हैं—एक तो द्रव्य का यज्ञ और दूसरा आत्मज्ञान यज्ञ जो विशुद्ध आध्यात्मिक कर्म है। यदि आत्म-साक्षात्कार के लिए द्रव्ययज्ञ नहीं किया जाता तो ऐसा यज्ञ भौतिक

बन जाता है। किन्तु जब कोई आध्यात्मिक उद्देश्य या भक्ति से ऐसा यज्ञ करता है तो वह पूर्णयज्ञ होता है। आध्यात्मिक क्रियाएँ भी दो प्रकार की होती हैं—आत्मबोध (या अपने स्वरूप को समझना) तथा श्रीभगवान् विषयक सत्य। जो *भगवद्गीता* के मार्ग का पालन करता है वह ज्ञान की इन दोनों श्रेणियों को समझ सकता है। उसके लिए भगवान् के अंश स्वरूप आत्मज्ञान को प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती है। ऐसा ज्ञान लाभप्रद है क्योंकि ऐसा व्यक्ति भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को समझ सकता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में स्वयं भगवान् ने अपने दिव्य कार्यकलापों का वर्णन किया है। जो व्यक्ति *गीता* के उपदेशों को नहीं समझता वह श्रद्धाविहीन है और जो भगवान् द्वारा उपदेश देने पर भी भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप को नहीं समझ पाता तो यह समझना चाहिए कि वह निपट मूर्ख है। कृष्णभावनामृत के सिद्धान्तों को स्वीकार करके अज्ञान को क्रमश: दूर किया जा सकता है। यह कृष्णभावनामृत विविध देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, ब्रह्मचर्य यज्ञ, गृहस्थ यज्ञ, इन्द्रियसंयम यज्ञ, योग साधना यज्ञ, तपस्या यज्ञ, द्रव्ययज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ तथा वर्णाश्रमधर्म में भाग लेकर जागृत किया जा सकता है। ये सब यज्ञ कहलाते हैं और ये सब नियमित कर्म पर आधारित हैं। किन्तु इन सब कार्यकलापों के भीतर सबसे महत्त्वपूर्ण कारक आत्म-साक्षात्कार है। जो इस उद्देश्य को खोज लेता है वही *भगवद्गीता* का वास्तविक पाठक है, किन्तु जो कृष्ण को प्रमाण नहीं मानता वह नीचे गिर जाता है। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह सेवा तथा समर्पण समेत किसी प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में *भगवद्गीता* या अन्य किसी शास्त्र का अध्ययन करे। प्रामाणिक गुरु अनन्तकाल से चली आने वाली परम्परा में होता है और वह परमेश्वर के उन उपदेशों से तनिक भी विपथ नहीं होता जिन्हें उन्होंने लाखों वर्ष पूर्व सूर्यदेव को दिया था और जिनसे *भगवद्गीता* के उपदेश इस धराधाम में आये। अत: *गीता* में ही व्यक्त *भगवद्गीता* के पथ का अनुसरण करना चाहिए और उन लोगों से सावधान रहना चाहिए जो आत्म-श्लाघा वश अन्यों को वास्तविक पथ से विपथ करते रहते हैं। भगवान् निश्चित रूप से परमपुरुष हैं और उनके

कार्यकलाप दिव्य हैं। जो इसे समझता है वह *भगवद्गीता* का अध्ययन शुभारम्भ करते ही मुक्त होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के चतुर्थ अध्याय ''दिव्य ज्ञान '' का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*